

श्रीमद्भगवद्गीता

व्रजभाषा-पद्यानुवाद-सहिता



"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"
(गी० अ० १८, श्लो० ६६)

लेखक और प्रकाशक

वेदान्ताचार्य स्वामी तुलसीराम मिश्र विद्यानिधि

एम्० ए० एम्० आर० ए० एस०

(भूतपूर्व महोपाध्याय आगरा कालिज)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
(गीता, अ० १२. श्लो० १३–१४) ।

प्रथम संस्करण

केसरीदास सेठ द्वारा

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित

५००० प्रति] मूल्य—भगवद्भक्तिः { संवत् १९८२
सन् १९२५ ई०

ओ३म्

प्रकाशन सहायक

१. श्रीमान् राजा मानसिंहजी महोदय लाखनऊ ज़िला अलीगढ़,
१००० प्रति ।

२. श्रीमान् बाबू रामरघुवीरलालजी रईस फ़ैज़ाबाद,
१००० प्रति ।

३. श्रीमान् पंडित बालकृष्णजी शुक्ल बी. ए. एल-एल. बी.,
वकील उन्नाव, १००० प्रति ।

४. श्रीमान् पंडित परमेश्वरनाथजी सप्रू बी.ए. एल-एल. बी.,
वकील फ़ैज़ाबाद, १००० प्रति ।

५. श्रीमान् मुंशी विष्णुनारायणजी भार्गव-रईस, लखनऊ,
मालिक नवलकिशोर यंत्रालय, १००० प्रति ।



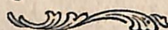
अथ समर्पणम्



समर्पये ग्रंथमिमं श्रीशाय जगदात्मने ।

अनेन प्रीयतां देवो भगवान् पुरुषः परः ॥

तुलसीराम मिश्र



ओ३म्

भूमिका

(भक्तियोग के आधार पर)

भक्तिसूत्र में नारद ऋषि कहते हैं—"परमेश्वर में परम प्रेम को भक्ति कहा गया है।"

यह दो प्रकार की है। सहेतुकी और अहेतुकी। सहेतुकी भक्ति वह है जिसमें स्वार्थ रहता है। अहेतुकी भक्ति वह है जिसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं पाया जाता।

जबतक मनुष्य अज्ञानी रहता है तभी तक ऐहिक सुखों की इच्छा करता है और उनकी प्राप्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता रहता है। परंतु ज्ञान प्राप्ति के उपरांत ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रहती। यहां ध्रुवकुमार का उदाहरण उपयुक्त है।

ध्रुवकुमार नें राज्य प्राप्ति के निमित्त ईश्वराराधन का प्रारंभ किया था। कठिन तपस्या के उपरान्त जब भगवान् ने उसे दर्शन दिया और वर मांगने की आज्ञा प्रदान की, उस समय उसका हृदय ज्ञानप्राप्ति के कारण प्रभुप्रेम में इतना आसक्त हो चुका था कि उसने किसी सांसारिक पदार्थ के

प्राप्त करने की इच्छा प्रकट न की, केवल इतना ही कहा— "हे भगवन् ! जिस दर्शन के लिये देवगण, ऋषिगण, सिद्धगण, पितृगण उत्सुक रहते हैं, जो बड़े बड़े मुनियों को अप्राप्य है, उस आपके पुण्य दर्शन को प्राप्त करके मुझे त्रैलोक्य के साम्राज्य की भी इच्छा नहीं रही। अब मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये। कांच को ढूंढ़ते ढूंढ़ते मुझे रत्न मिल गया, अब मैं केवल एक ही वरदान की इच्छा रखता हूँ। मेरा मन निरंतर ईश्वर में तल्लीन रहे। इसके अतिरिक्त मुझे और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है ॥"

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं श्रीमुख से कथन करते हैं— "जिसने अपनी आत्मा मुझे अर्पण करदी है, उसे न ब्रह्मासन की आकांक्षा रहती है, न इन्द्रासन की, न वह अखिलविश्व सार्वभौम राज्य को चाहता है, न पाताल के स्वामित्व को। यहांतक कि वह पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की भी आकांक्षा नहीं रखता, उसे तो मेरे सिवा अन्य किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रहती।" (श्रीमद्भागवत) ऐसा भक्त प्रह्लाद था। उसके हृदय में जन्म से ही अहैतुकी भक्ति का अंकुर जमा हुआ था। वह निरंतर हरिनाम का स्मरण किया करता था। उसके पिता हिरण्यकशिपु का विदारण करने के पश्चात् जब नृसिंह भगवान् ने उसे वर मांगने की आज्ञा दी तो उसने केवल यही कहा—

"नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युताऽस्तु सदा त्वयि ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥"

प्रियपाठको ! यही निष्काम भक्ति है । यही रागात्मिका भक्ति है । यही अहैतुकी भक्ति है । यही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है । ध्रुव और प्रह्लाद के समान तुम भी सच्चे भगवद्भक्त बनो । फिर तुमको स्वराज्य और साम्राज्य दोनों ही सहज में प्राप्त होजायँगे । क्योंकि सच्चा भगवद्भक्त ही निष्काम कर्म कर सकता है जोकि सब सिद्धियों का मूल है ।

ओ३म् ! तत् !! सत् !!!

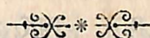
"तुलसीराम स्वामी"



श्रीमद्भगवद्गीता

[हिंदी-पद्यानुवाद]

सहित



अध्याय १



धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ॥
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकठौर रणकाज।
संजय ! मम सुत पांडुसुत कहा करत हैं आज ? ॥ १ ॥

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ॥
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय ने कहा।

लखि पांडव व्यूहित अनी दुर्योधन अधिराज।
वचन उचार्‍यो जाइ तहँ जहँ गुरु द्रोण विराज ॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ॥
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे गुरु ! देखो यहि बड़ी व्यूहित पांडव सैन ।
जाको थापक शिष्य तव द्रुपदपुत्र मतिऐन ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ॥
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

परम धनुषधारी यहाँ भीमार्जुन सम वीर ।
युयूधान वैराट अरु द्रुपद महारथ धीर ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ॥
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु पुरुजित तथा काशिराज बलवान ।
नरवर भट हैं शैब्य अरु कुंतिभोज चिकितान ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युधामन्यु विक्रान्त अरु उत्तमौज अति धीर ।
द्रौपदेय सौभद्र सब महारथी बलवीर ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ॥
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजवर ! अब तुम सुनो सूचनार्थ यहि बात ।
जो हैं सेनप आपने दरसावत हों तात ! ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

आपु भीष्म अरु कर्ण कृप जयी सिंधुपति धीर ।
अश्वत्थाम विकर्ण अरु सौमदत्ति बलवीर ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

मम लगि जीवन त्याग करि अन्य अनेकहु वीर ।
अस्त्र शस्त्र धारण किये युद्धचतुर सब धीर ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

बल हमार पर्याप्त नहिं भीषम जाके नाथ ।
शत्रुसेन पर्याप्त यहि भीम जाहि के साथ ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

यथा भाग अत्र घेरकै सब नाके तेहि हेत ।
पूर्ण रीतिसों तुम सभी रक्षहु भीष्म सचेत ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

तेहि चित हर्षित करन हित भीष्मपितामह आइ ।
सिंहनाद करि शङ्ख तब तुरतहि दियो बजाइ ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ॥
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

शंख भेरि ताशे तबहि नरसिंहे इक साथ ।
नक्कारे बाजन लगे भयो महारव नाथ ! ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ॥
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

श्वेत तुरंगम युत तहाँ रह्यो दीर्घ इक यान ।
ता बिच बैठे पार्थ हरि फूँके शंख महान ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ॥
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

देवदत्त अर्जुन तबहि पांचजन्य हृषिकेश ।
पौंड्र वीरवर भीम ने धुधुकार्यो शंखेश ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

विजयअनन्तहु युधिष्ठिर कुन्तीसुत नरदेव ।
नकुल सुघोषहु धुधुकर्यो मणिपुष्पक सहदेव ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ॥
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

महा धनुर्धर काशिनृप रथी शिखंडीराज ।
धृष्टद्युम्न विराट अरु सात्यकि अजित सुसाज ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् १८॥

द्रुपदसुतासुत अरु द्रुपद महाबाहु अभिमन्यु ।
न्यारे न्यारे शंख सब धुधुकारे सहमन्यु ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

धरणि और आकाश में शब्द रह्यो भरपूर ।
जातें कुरुदल के हृदय हुइ गये चकनाचूर ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ॥
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥

पुत्रन कों धृतराष्ट्र के लखि ठाढ़े युद्धार्थ ।
अस्त्र शस्त्र छूटन समय धनुष उठायो पार्थ ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हृषीकेश सों वचन तब बोल्यो यहि महिपाल !

अर्जुन ने कहा ।

अच्युत ! रथ ठाढ़ो करो सेन मध्य यहिकाल ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

मैं तिन देखन चहत हों आये जो रणहेत ।
कौन कौन तें युद्ध अब करनो है बिच खेत ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ॥
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुर्योधन मतिमंद के शुभचिंतक हों जोइ ।
युद्धहेत आये यहाँ देखों तिन सब कोइ ॥ २३ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ॥

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

संजय ने कहा ।

जब अर्जुन ने कृष्ण सों कहे नृपति ! अस बैन ।

थाप्यो रथ सर्वेश ने तब बिच दोऊ सैन ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

भीष्म द्रोण अरु नृपन के सन्मुख कह यदुराइ ।

देख पार्थ कुरुदल जम्यों युद्धहेत यहँ आइ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥

आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा २६

तहँ पारथ देखे खड़े काका दादा वीर ।

गुरु मामा श्याला सखा सुहृद भ्रात रणधीर ॥ २६ ॥

श्वसुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥

तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् २७॥

पुत्र पौत्र बान्धव श्वशुर प्रियजन हू सब कोइ ।

उभय सेन बिच पार्थ ने लखे जो आये सोइ ॥ २७ ॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

दयामग्न हुइ तब महा दुखित कहत बलवीर ।

अर्जुन ने कहा ।

कृष्ण देखि कै स्वजन ये रणहित खड़े अधीर ॥ २८ ॥

सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २८ ॥

मुख मेरो सूखन लग्यो शिथिल भयों सब गात ।
कांपत तन मेरो अधिक रोमहर्ष बहुतात ॥ २९ ॥

गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

गाण्डीवहु कर सों खसत जरत त्वचा सब दह ।
खड़े रहन की शक्ति नहिं भ्रमत चित्त छन एह ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

सब असगुन मैं लखत हों नाहिं लखत कल्यान ।
का विधि हम सुख पाइ हैं बंधुन के हति प्रान ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२

विजय न चाहत कृष्ण ! मैं नाहिं राज्यसुख चाह ।
मोइ राज्य अरु भोग सों जीवन सों प्रभु ! काह ? ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ३३

जिनके हित हम चहत हैं राज भोग सुखसाज ।
ते ठाढ़े तजि प्राण धन युद्धक्षेत्र में आज ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाःश्वसुराःपौत्राःश्यालाःसंबन्धिनस्तथा ३४

काका बाबा सुत गुरु मामा ससुरे जोइ ।
नाती साले मित्र अरु संबंधी सब कोइ ॥ ३४ ॥

एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ३५ ॥

मारतहू मारन चहों इन्हैं न मधुहंतार !
तीन लोक के राज लगि कहा मही अधिकार ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

का सुख हम लहिहैं प्रभो ! धार्त्तराष्ट्रदल मारि ।
पापहि लागे हमन कों आततायि संहारि ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७

तातें इनको मारिबो कबहुँ न हमकों जोग ।
बंधु हनन करि कस लहैं माधव ! सुख संजोग ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

यदपि लोभ के फंद में फँसि ये लखत न आप ।
वंशनाश अपराध कों मित्रद्रोह के पाप ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

क्यों उपाय हम नहिं करें जासों छूटै पाप ?
कुलघातक के दोष लखि कहो जनार्दन आप ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ॥
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

वंशनाश तैं नसत हैं सबहि सनातन धर्म ।
धर्म नाश तैं सब कुलहि ग्रसत व्रजेश ! कुकर्म ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

जब अधर्म की बाढ़ तें तिय दुष्टा हुइ जाहिं ।
हे यदुपति ! संकर तबहि जन्मत हैं तिन माहिं ॥ ४१ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

कुलघातक के दोष तें उपजत विपद महान ।
गिरत पितर इनके नरक लुप्त पिण्डजलदान ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ॥
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३

कुलनाशक के पाप तें संकरकारक जोइ ।
जातिधर्म कुलधर्म को निश्चय डूबन होइ ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

जबहिं जनार्दन ! पुरुष के धर्म कर्म नसजाहिं ।
निश्चय वे मैं सुनत हों परत नरक के माहिं ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

घोर कर्म के करन कों उद्यत हैं हम, हाइ !
निज बंधुन के हनन कों सुख अरु राज्य लुभाइ ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ॥
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

शस्त्रधारि वे शस्त्र अरु प्रतीकार बिनु पाइ ।
जो मारें मोकों यहीं मम मंगल हुइ जाइ ॥ ४६ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा ।

अस कहि पारथ युद्ध बिच रथ पाछे रहि बैठ ।
धनुषबाण त्यागत भयो शोक रह्यो मन पैठ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषाद-योगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इति अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय २

—*—

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ॥
विषादंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय ने कहा ।

आँखिन में आँसू भरे दुखित चित्त लखि ताइ ।
मधुसूदन बोले वचन अर्जुन सों समुझाइ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

भयो मोह यह कहाँ ते अर्जुन ! अपयशकार ।
स्वर्गहारि अरु नरकप्रद आर्यअयोग्य विकार ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

पार्थ ! नपुंसकता न गहु तुम्हैं योग्य अस नाहिं ।
मनदुर्बलता क्षुद्र तजि उठौ लड़ौ रण माहिं ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुन ने कहा ।

भीष्म द्रोण जो पूज्य हैं मेरे मधुहंतार !
तिन पर कहु कैसे करों रण में बाण प्रहार ? ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

भिक्षा भोजन लोक में है वर गुरुन न मारि ।
अर्थी गुरुजन मारिकै भोग रुधिरयुत भारि ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ॥
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

नहिं जानै हम को बड़ो जय अरु अजय मझार ।
जिन्हैं मारि हम नहिं जियें ते समक्ष तय्यार ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ॥
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

मोहदोपहत शूरता धर्ममूढ़ चित मोर ।
शरणागत पूछौं कुशल अहौं शिष्य मैं तोर ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ॥
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

शत्रुहीन अवनीशपद अमरराज्य हू पाइ ।
नाहिं लखों शोकाग्नि किमि इन्द्रियशोषक जाइ ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ॥
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय ने कहा ।

अर्जुन तब श्रीकृष्ण सों बोलत भये अस बैन ।
युद्ध न करिहौं परंतप ! अस कहि रहे अचैन ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

हे भारत ! तब कृष्ण ने कह्यो वचन मुसुकाइ ।
अर्जुन सों जो सेन बिच रह्यो ठाढ़ बिलखाइ ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ॥
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

शोक अयोग्यनि शोचते बोलत हौ बुध बैन ।
जिये मरे के विषय में शोचत नहिं मतिऐन ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

का हम तुम ये मनुजपति कबहुँ न भये कोउ काल ? ।
का फिर कबहु न होइँगे हम सब ये भूपाल ? ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

ज्यों प्राणी की देह में बाल्य जरादिक होइ ।
त्यों ही दूसर तन लहत मोहत बुध नहिं कोइ ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत १४

शीत उष्ण सुख दुःखप्रद इन्द्रिन के संभोग ।
ये अनित्य सहिये इन्हैं लखि संयोग वियोग ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ॥
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! जो वीरवर इन्हसों दुखी न होइ ।
सम दुख सुख जो धीर नर मुक्ति योग्य है सोइ ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

नाशवान थिर होत नहिं थिर नहिं कबहु नसात।
तत्त्वदार्शि दोऊ दशा जानत हैं सुनु तात ! ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

अविनाशी तेहि जानिये जो व्यापक सब माहिं ।
अविनाशी के नाश लगि कोऊ समरथ नाहिं ॥ १७ ॥

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

देही सदा विनाश विन देह नष्ट यहि जान ।
तातें अर्जुन ! लड़हु तुम अमर अमित पहिचान ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९

जो याको हन्ता कहै वा हत मानत जोइ ।
ये दोऊ जानत नहीं हनै न हत सो होइ ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

नाहिं जन्मत नाह मरत कभु हुइकै नाश न होइ ।
अजर अमर अरु नित्य जो मारे मरै न सोइ ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्य य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

जानत अव्यय नाशविनु ताहि नित्य अज जोइ ।
हनै काहि अरु पार्थ ! कहु काहि हनावै सोइ ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

ज्यों नर त्यागत वस्त्र कों जो पुरान हुइ जाइ ।
अरु नवीन धारण करत त्यों देही तन पाइ ॥ २२ ॥

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

कटत नाहिं यहि शस्त्र सों जरत न अनलहु माहिं ।
भीजत नहिं जल सों कबहु पवनहु सोखत नाहिं ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यहि अछेद्य नहिं जर सकत भीजत सूखत नाँइ ।
नित्य सर्वगत थिर अचल सदा सनातन गाइ ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यहि अव्यक्त अचिन्त्य यहि निर्विकार अस जान ।
तातैं शोचन योग्य नहिं पार्थ ! करहु पहिचान ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

जन्म लेत अरु मरत नित मानत अस जो याहि ।
तबहुँ न शोचन जोग यहि अस तुम जानौ ताहि ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जनम लिये पै मरन ध्रुव मृतक जन्म निर्धार ।

जो भावी अनिवार्य है शोकहु वृथा तुम्हार ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

आदि अंत में प्रकट नहिं मध्यहि प्रकटत जोइ ।

भारत ! जंहँ ऐसी दशा शोक करै का होइ ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अचरज सम कोउ यहि लखत अचरज भाषत कोउ ।

अचरज तैं कोउ सुनत है तऊ न जानत सोउ ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

देही नित्य अवध्य यह भारत ! सब तन माहि ।

तातैं सब प्राणिन के शोच योग्य तू नाहि ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते३१॥

आपन धर्म विचारि हू नहिं काँपन के जोग ।

धर्मयुद्ध तैं अधिक कछु गनै न क्षत्रिय लोग ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

स्वय प्राप्त जो पार्थ यहि खुलौ स्वर्ग कौ द्वार ।
क्षत्रिय ऐसे युद्ध कौं पावत सुखद अपार ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

धर्म युक्त या युद्ध कों जो न करै तू आप ।
तौ स्वधर्म अरु कीर्ति तजि निश्चय पावहि पाप ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ॥
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

करिहैं अर्जुन ! लोग तव अपकीरति नहिं थोर ।
माननीय की मरन तैं अधिक अकीरति घोर ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ॥
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

भय तें भाग्यौ तोहि सब समुझैं रथी महान ।
लघुता पैहो तिनहि तैं जिनन कियो सन्मान ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ॥
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

बहुतक अनकहनी कहहिं अर्जुन ! शत्रु तुम्हार ।
निन्दहि तव सामर्थ्य कों, सो नहिं दुःख अपार ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

मरे पाइहौ स्वर्गसुख जीते भुइँ को राज ।
तातें कुंतीसुत ! उठो करि निश्चय रणसाज ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

लाभ हानि अरु जय अजय सुख दुख ह्व सम मान ।
युद्ध करन कों कटि कसौ पाप न यामें जान ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

यहि शिक्षा है सांख्य की योगहु की सुनु जोइ ।
कर्म बन्ध तें पार्थ तव जातें छूटन होइ ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४०

नाहिं परिश्रम व्यर्थ कभु छुटत विकार न होइ ।
भय भारी तें रखत है तनिक धर्महू सोइ ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ॥
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनंदन ! बुद्धि हू व्यवसायिन की एक ।
अव्यवसायिन का बहुत शाखायुक्त अनेक ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

चिकनी चुपड़ी बात जो बोलत हैं नर मूढ़ ।
हुइ अनन्यवादक तथा वेदवादरत कूढ़ ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

काम परायण स्वर्गरत जन्मकर्मफल हेत ।
विविध कर्म सिखवहिं करन प्रिय संकल्प समेत ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

ता वाणी ते जो ढक्यौ भोग सक्त मन जास ।
व्यवसायात्मक बुद्धि कौ नहिं ता मन में वास ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
निर्द्वंद्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ४५॥

त्रिगुण विषय सब वेद हैं, त्रिगुण पार हो वीर ।
द्वन्द्व रहित नित सत्वथित योगक्षेमबिनु धीर ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

एक कूप में बाढ़ बिच नर कौ जेतौ स्वार्थ ।
ज्ञानप्राप्त बुध कौ तथा वेदन में सुनु पार्थ ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७॥

कर्महि में अधिकार तव फल में कबहू नाहिं ।
हेतु कर्मफल तौ न बन तज अकर्म सँग काहिं ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते४८॥

योगयुक्त ह्वइ कर्म करु संग छांड़ि कै पार्थ !
सिद्धि असिद्धि समान जहँ वहीं योग परमार्थ ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४६ ॥

बुद्धियोग तैं न्यूनतर कर्महि अर्जुन जान ।
लेउ सहारौ बुद्धि कौ कृपण फलाशावान ॥ ४६ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त यहिलोक में पाप पुण्य तज देत ।
कर्मकुशलता योग है योग गहौ तेहि हेत ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

बुद्धियुक्त ज्ञानी करत कर्मज फल को त्याग ।
जन्मबन्ध तैं मुक्त हुइ लहत परमपद भाग ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

बुद्धि तोर जब मोह कौ कल्मष करि है पार ।
श्रुत श्रोतव्य विराग कौ तब मिलि है उपहार ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

वेदवचनविक्षिप्त मति जबहि अचल ठहराइ ।
पाइ समाधी पार्थ तब योगयुक्त हुइ जाइ ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ॥

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

अर्जुन ने कहा ।

थिरमति अरु योगस्थ को केशव का पहिचान ?
कैसे बोलत चलत अरु बैठत करौ बखान ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान ने कहा ।

त्यागि सकल मनकामना तुष्ट होइ जब पार्थ !
आतम में आतम जुटै थिरमति तबहि यथार्थ ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुख में चित व्याकुल नहीं सुख की चाह न जाइ ।
विगत सग भय क्रोध जो थिरमति मुनी कहाइ ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

नेह रहित जीवादि बिच, कबहु शुभाशुभ पाइ ।
हर्ष शोक जो नहिं करत ताकी बुद्धि थिराइ ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

ज्यों कछुआ निज अंग कौं खैंचि आपु में लेत ।
तैसे इन्द्रियगण खिच्यो निरचल मति करदेत ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

निराहार जन कों विषय तजिकर करत पयान ।
बिनु रस, रसहू करत है लखि पर कों प्रस्थान ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

यत्न करत जो विज्ञहू कुन्तीसुत थिति हेत ।
तिनहूं कों इंद्रिय प्रबल बरबस करत अचेत ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

तिनहि जीति कर युक्त पुनि मो में तत्पर होइ ।
जाके वश इंद्रिय रहैं निश्चय थिरमति सोइ ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ६२॥

विषयन में रति होत है जब नर ध्यान लगाव ।
रति कामहिं दृढ़ करत है काम क्रोध उपजाव ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

होत क्रोध तें मोह अरु तासों मतिभ्रम पाश ।
तातें बुद्धि विनाश पुनि बुद्धि नाशतें नाश ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

राग द्वेष ताजि वश करै मनके इंद्रिन जोइ ।
मनोजयी अरु विमलमति पावै शान्तिहि सोइ ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

जब प्रसन्न मन होत है सबहि क्लेश मिट जाइ ।
विमलचित्त की बुद्धि पुनि तुरतहि पार्थ ! थिराइ ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

नहिं अयुक्त की बुद्धि थिर नहिं अयुक्त के भाव ।
भाव बिना नहिं शान्ति पुनि ताबिनु सुख को पाव ? ॥ ६६ ॥

इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ॥
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥

इन्द्रियवश मन होत जब तबहि बुद्धि हर लेत ।
जैसे जल में नाव कों पवन झकोरा देत ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्जुन ! इंद्रियभोग तैं इन्द्रिन खैंचत जोइ ।
अरु मन कों वश करत है ताकी मति थिर होइ ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ६९ ॥

जो रजनी सब सृष्टि की तामें यती जगाइ ।
जामें सब प्राणी जगें तामें मुनि सोजाइ ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ॥
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

पूरन अचल समुद्र बिच ज्यों नद करत प्रवेश ।
त्योंही यतचित शांति लह बिना काम लवलेश ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ॥
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

सबहि कामना त्याग करि बिनु इच्छा जब होइ ।
अहंकार ममता रहित मनुज शांति लह सोइ ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ब्रह्मप्राप्ति साधन सुगम जा बिच मोह न होइ ।
अंतकाल जो गहत यहि लहत परम पद सोइ ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति सांख्ययोगोनाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥
ओ३म् तत् सत्

अध्याय ३

—०—

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ॥
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

बुद्धि कर्म तें अधिकतर जो मानत हो आप ।
तौ मोसों केशव कहो क्यों करवावत पाप ? ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ॥
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

मिश्रित से तुम्हरे वचन मति मोहत हैं मोर ।
कृष्ण कहहु निश्चित वचन ज्यों शुभ लहहुँ अथोर ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ॥
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्रीभगवान ने कहा ।

अनघ ! पूर्व ही कहि चुक्यो तुमतें निष्ठा दोइ ।
ज्ञान कर्म संयोग तैं पारथ ! जानिय सोइ ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अनारम्भ तें कर्म के निष्कर्मा नहिं होइ ।
कर्मत्याग हु तैं कबहु सिद्धि लहत नहिं कोइ ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

नहिं कोऊ कबहू रहत छिन भर हू बेकार ।
त्रिगुण करावत सबहि सों अवश कर्म व्यवहार ॥ ५ ॥

कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ॥
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्मेन्द्रिय कों रोकि कै मन में सुमिरत जोइ ।
विषय भोग कों मूढ़ मति मिथ्याचारी सोइ ॥ ६ ॥

यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ॥
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

मन तें इन्द्रिन दमन कर विषय वासना त्याग ।
कर्म करत जो पार्थ ! इह पावत सो बड़ भाग ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियत कर्म कर पार्थ ! तू बड़ अकर्म तें कर्म ।
पालन पोषन देह कौ नहिं सम्भव बिनु कर्म ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ॥
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ छाँड़ि कै कर्म सब प्रतिबंधक हैं पार्थ !
फल की इच्छा त्यागि कै कर्म करहु यज्ञार्थ ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञ सहित सब प्रजा रचि बोले पुनि करतार ।
बढ़ौ यज्ञ तें यज्ञ ही अभिमत फलदातार ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

देवन पोषौ यज्ञ तें तुमहुँ पोषिहैं देउ ।
एहि विधि पोषत परस्पर बढ़ कल्यानहु लेउ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

वांछित फल दैहैं तुमहिं देव यज्ञसन्तुष्ट ।
तिन्हैं दिये बिनु भोगिवो चोरकर्म है दुष्ट ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ॥
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञशिष्ट भोजन करत होत मनुज निष्पाप ।
खात सो पापी पाप ही पाचत जो लगि आप ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

जीव अन्न तैं होत हैं अन्न मेह तैं होइ ।
मेह यज्ञफल है सदा यज्ञ कर्म फल जोइ ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

कर्म वेद सों होत है वेद हु अक्षरभूत ।
तातें सन्तत यज्ञ में व्यापक ब्रह्म अकूत ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ॥
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

याविधि घूमत चक्र कों पार्थ ! न वर्तै जोइ ।
इन्द्रियरत पापी महा वृथा जियत है सोइ ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

पर जो पारथ ! आत्मरत आत्मतृप्त नर होइ ।
आत्मा में ही लीन ह्व कार्य न ताकों कोइ ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

ताहि करे ना करे सों कछुक प्रयोजन नाहि ।
नहिं स्वारथहू ताहि कौ भूतग्राम के माहि ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तातें बिनु आसक्ति के कार्यकर्म करु पार्थ !
अनासक्त जो करत है सो पावहि परमार्थ ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

कर्महि तें जनकादि हू पाइ गये सिधिधाम ।
तातें जगहित देखि कै करहु कर्म निष्काम ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

भद्र लोग जो करत हैं करत इतर जन सोइ ।
जो प्रमाण वे करत हैं मानत तेहि सब कोइ ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

नहिं मोकों तिहुँ लोक में कछु करिबे कों पार्थ !
नहिं अलब्ध कौ लाभहू तदपि करहुँ परमार्थ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

जो कदापि आलस रहित कर्म न करों बनाइ ।
पार्थ ! सदा जनता अखिल मेरेहि मारग जाइ ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

नाश होइँ ये लोक सब जो न करों मैं काज ।
संकर कर्ता मैं बनूँ नासूँ सकल समाज ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ॥
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

जैसै मूरख करत हैं कर्म सदा आसक्त ।
बुधजन तैसै लोकहित ताकों करें विरक्त ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ॥
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्मासक्त विमूढ़ कों नहिं मतिभेद कराइ ।
योगयुक्त बुध कर्म करि सर्व कर्म करवाइ ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ॥
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

कर्म सदा सब होत हैं प्राकृत गुण अनुसार ।
अहंकार वश मूढ़जन मानत मैं करतार ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्तंत इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

गुण बर्तत हैं गुणन में अस मानत जो कोइ ।
समुझि तत्त्व गुण कर्म कौ वह आसक्त न होइ ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ॥
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्राकृत गुण के मोहवश बँध्यो कर्म के माहि ।
ऐसे को अल्पज्ञ लखि बुध बिचलावै नाहि ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मोको अर्पण कर्म करि आतम चित्त लगाइ ।
आशा ममता त्यागिकै लड़हु ताप बिसराइ ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ॥
श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

एहि मेरौ मत मानि हैं पारथ ! मानव जोइ ।
श्रद्धायुत निन्दा रहित मुक्त कर्म तैं होइ ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ॥
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

मम मत की निन्दा करत जो नहिं धारै कोइ ।
ताकों अज्ञानी समुझ वाकौ नाशहि होइ ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किंकरिष्यति ॥३३॥

बुधजन हूँ बरतें सदा निज स्वभाव अनुसार ।
प्रकृत चलाये सब चलत इहां रोक बेकार ॥ ३३ ॥

इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

राग द्वेष इन्द्रिन विषै सदा उपस्थित आहिं ।
शत्रु मुमुक्षू के प्रबल तिन वश परिये नाहिं ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

सुकृत पराये धर्म तैं विकृत भलौ निज धर्म ।
मरण श्रेष्ठ निजधर्म में भयदायक परकर्म ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन ने कहा ।

केहि सों प्रेरित होइ नर पाप करत नित जोइ ।
बिनु इच्छा यदुराइ ! ज्यों परवश खैंच्यौ होइ ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७॥

श्रीकृष्णभगवान् ने कहा ।

पार्थ ! काम यह क्रोध यह रज तैं प्रकटत जोइ ।

महाखबोरा पापमय बुद्धि शत्रु हैं सोइ ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ॥

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

धूम ढकत है आग जिमि दर्पण कों मल जैस ।

जरा ढकत जिमि गर्भ कौं ज्ञानहु कों वे तैस ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ॥

कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

ज्ञानी के यह शत्रु हैं ढकें ज्ञान की जोत ।

कामरूप दुष्पूर यह पारथ ! अनल उदोत ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ॥

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रिय मन अरु बुद्धि हू वरने ताके ठाम ।

इनसों मोहित करत यह ढकिकर ज्ञान तमाम ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ॥

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

तातें प्रथमहिं पार्थ तुम इन्द्रिन वश करलेउ ।

ज्ञान और विज्ञान के रिपु कौ वध करिदेउ ॥ ४१ ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ॥

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

इन्द्रिन कों पर कहत हैं इन्द्रिन पर मन मान ।
मन तें पर बुद्धी कही ताहि बुद्धि पर जान ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

एहि प्रकार बुधि तैं परै जानि ताहि कौ सार ।
महाबाहु ! थिर चित्त करि कामरूप रिपु मार ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय ४

—:०:—

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

प्रथम भानु सों मैं कह्यौ जोग सनातन एहि ।
सूरज ने मनु सौं कह्यौ इक्ष्वाकू सौं तेहि ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

राजर्षिन कों ज्ञात सो परम्परागत योग ।
कालचक्र वश दूसरे भूल गये सब लोग ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वही पुरातन योग शुभ कह्यौ तोहि मैं आज ।
यह रहस्य गम्भीर अति भक्त सखा के काज ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो ज़न्म परं जन्म विवस्वतः ॥
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन ने कहा ।

जन्म तिहारौ अब भयौ बहुत दिनन के भान ।
केहि विधि जानूं तुमहि ने तासों करौ बखान ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

बहुतेरे अर्जुन! भये जन्म मोर अरु तोर ।
तिन्हैं न जानत पार्थ तू विदित सकल ते मोर ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

जन्म रहित भूतेश हू अरु अक्षीण स्वभाव ।
वश में करि निज प्रकृति कों माया सों मम भाव ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

जब जब भारत! होत है कितहुँ धरम की हार ।
अरु अधरम की जीत तब आवत बारंबार ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

रक्षणार्थ संतन सुजन अरु दुष्टन संहार ।
धर्मथपनहित लेत हौं युग युग में औतार ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जन्म कर्म मम दिव्य हैं अस जानत जो कोइ ।
तनु तजि पावत मोहि कों जन्म फेर नहिं होइ ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

मद्गत आश्रित मोहि में वीतरागभय क्रोध ।
पाय गये मम भाव कों बहुत पाइ करि बोध ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
मम वर्त्मानुवर्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११ ॥

मोकों जो जैसे भजै मैं हुं भजत त्यौं ताइ ।
सभी लोक कुन्तीतनय ! मेरे मारग जाइ ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः ॥
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

देवन की पूजा करहिं इहां सिद्धि के हेत ।
पारथ ! सुनु एहि लोक में कर्म शीघ्र फल देत ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुण अरु कर्म विभाग तें वर्ण रचे मैं चार ।
यद्यपि ये मैंने किये तदपि न मैं करतार ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिंपंति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥१४॥

कर्म मोहि लिपटत नहीं नहिं फल इच्छा होइ ।
जो मोकौं अस जानते कर्मबद्ध नहिं सोइ ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्व मुमुक्षुनहू किये सदा कर्म अस जान ।
तातें तुमहू कर्म ही करहु विहित मतिमान ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६

का अकर्म का कर्म है बुधजन इहां भुलाइ ।
छुटहु अशुभ तें जानि जिहि सो मैं देहुँ बताइ ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्महु जानन जोग है तथा विकर्म अकर्म ।
कर्मन की गति गहन है दुर्गम अति एहि धर्म ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

लखत अकर्महि कर्म में अरु अकर्म में कर्म ।
बुद्धिमान सोइ जनन में जानत है सब मर्म ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ॥
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥१९॥

छाँड़ि काम संकल्प कों करत कर्म सब जोइ ।
जारि कर्म ज्ञानाग्नि में बुद्ध कहावत सोइ ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

त्यागि कर्मफल संग कों करत कर्म सब जोइ ।

नित्यतृप्त आश्रय विना नाहिं करत कछु सोइ ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

आशा तजि यतचित्ततन त्यागि परिग्रह जोइ ।
कर्म करत तन लागि ही ताको पाप न होइ ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ॥
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो पावै तामें सुखी द्वंद्व न मत्सर जाइ ।
सिद्धि असिद्धि समान लखि कर्मबन्ध नहिं ताइ ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ॥
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

संग वासना रहित अरु ज्ञानस्थित चित जोइ ।
यज्ञहेत कर्त्ताहु कौ कर्म सकल लय होइ ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म स्रुवादिक ब्रह्म हवि ब्रह्म अगिन होतार ।
ब्रह्म कर्म तैं नियम करि ब्रह्म लहब करतार ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ॥
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

देवयज्ञ कोउ करत हैं योगी जन शुचि होइ ।
यज्ञहि तैं ब्रह्माग्नि में यज्ञहि होमत कोइ ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

श्रवणादिक इन्द्रियन कों कोउ संयम के द्वार ।
होमत शब्दादिक विषय इन्द्रिय अगिन मझार ॥ २६ ॥

सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

कर्म प्राण इन्द्रियन के सब ही होमत कोइ ।
आतमसंयम वह्नि में ज्ञानप्रकाशित जोइ ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्ययज्ञ कोउ करत हैं योगयज्ञ हू कोइ ।
ज्ञानयज्ञ तपयज्ञ कोउ श्रुतिपाठी कोउ होइ ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ॥
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

हुतहिं अपानहिं प्रान में कोउ अपान में प्रान ।
प्राणायामी होइ करि रोकत प्रान अपान ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

कोउ कोउ मित आहार करि धरत प्रान बिच प्रान ।
जाननहारे यज्ञ के यज्ञपूत तिन्ह जान ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

ब्रह्म सनातन लहत ते यज्ञ बच्यौ जे खाहिं ।
और अयज्ञन कों कहाँ यह नरलोकहु नाहिं ॥ ३१ ॥

नित्यतृप्त आश्रय विना नाहिं करत कछु सार ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥३२॥

एहि विधि यज्ञन के बहुत वेद बखाने नाम ।
इन सबकों कर्मज समुझि पावोगे परधाम ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

उत्तम तू धनयज्ञ तें ज्ञानयज्ञ ही मान ।
ज्ञानहि में सब कर्म की पार्थ ! सफलता जान ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

ताकों जानव विनयतें पूछि सहित सन्मान ।
तत्त्वदर्शि ज्ञानी तुम्हैं उपदेशहिं वहि ज्ञान ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ॥
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५ ॥

जाहि जान कै पार्थ ! सुनु मोह न पुनि अस होइ ।
जातें मो में आपु में लखिहौ तुम सब कोइ ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

सब पापिन सों अधिकतर जो तू पापी होइ ।
अघसागर तें तउ तरहि ज्ञानपोत दृढ़ जोइ ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे जरती अगिन में काठ भसम हुइ जाइ ।
तैसे ही सब कर्म हू ज्ञान अनल कों पाइ ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥३८॥

ज्ञान समान पवित्र कोउ अन्य वस्तु जग नाहिं ।
लहब समय पर आपुही योग सिद्ध निज माहिं ॥ ३८ ॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

तत्पर इन्द्रियजित तथा श्रद्धायुत लह ज्ञान ।
ज्ञान पाइ तुरतहि लहत सो जन शान्ति महान ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥४०॥

अज्ञानी श्रद्धारहित संशय चित नसि जाइ ।
ना यहि लोक न पर न सुख कबहु मिलत है ताइ ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥ ४१ ॥

त्यागि कर्म सब योग तें ज्ञान छिन्न संदेह ।
आत्मवन्त बिच कर्म नहिं करिहैं पारथ गेह ॥ ४१ ॥

तस्माद्ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः॥
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

तातें भारत ! काटिकरि ज्ञानकृपाण चलाइ।
संशय कों उठि युद्ध कों योग रीति कों पाइ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञान-योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय ५

—:०:—

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ॥
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

कर्मत्याग अरु योग दोउ कृष्ण बतावत मोइ ।
इन्ह में निश्चय करि कहौ जो श्रेयस्कर होइ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

कर्मयोग संन्यास दोउ मोक्ष मार्ग यहि जान ।
ताहू पै संन्यास तें कर्मयोग बढ़ मान ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ॥
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

नित संन्यासी जानु तेहि जाकै द्वेष न चाह ।
द्वन्द्वरहित वहि बन्ध तें छूटत सहित उछाह ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ॥
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विंदते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्ययोग न्यारे कहहिं बालक, पण्डित नाहिं ।
एकहु में जो दृढ़ रहै दोउन कौ फल ताहिं ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

सांख्यन कों जो प्राप्य है योगीहू तेहि पाइ ।
सांख्ययोग जो एक ही देखैं तिनहि दिखाइ ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ॥
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

सांख्य महाभुज ! योग बिनु है दुष्प्राप्य महान ।
कर्मयुक्त मुनि ब्रह्म कों शीघ्र लेत पहिचान ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

कर्मयुक्त मन वच विमल इन्द्रियजित जो होइ ।
सर्वभूतहितरत सदा करतहु लिप्त न सोइ ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥

मैं तो नहिं कुछ करत हों बुध मानै यहि बात ।
लखत सुनत छूअत सुँघत खात चलत निद्रात ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्तंत इति धारयन् ॥ ९ ॥

श्वास लेत बोलत तजत पकरत खोलत नेत्र ।
मूंदत पुनि इन्द्रिन लखत बर्तत निज निज क्षेत्र ॥ ९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ॥
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

ब्रह्मसमर्पण कर्म करि करै जो फल कौ त्याग ।

कमलपत्र ज्यों वारि बिच रहै सदा बेलाग ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि ॥

योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ११

केवल तन मन बुद्धि तैं वा इन्द्रिन तैं जोइ ।

शुद्धिहेत उद्यम करै निश्चय योगी सोइ ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

योगी तजिकै कर्मफल पावत शान्ति महान ।

इच्छाफल में सक्त नर पड़ते बन्धन आन ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

मन तैं तजि सब कर्म कों वशी सुखी हुइ जाइ ।

करत करावत कछु नहीं नवदुवारपुर पाइ ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

नहिं कर्त्ता नहिं कर्मफल सृजत लोक कौ नाथ ।

नाहिं कर्मफल योग हू, रहत स्वभावहि साथ ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥ १५ ॥

प्रभु न लेत काहुक सुकृत नाहिं लेत है पाप ।

ज्ञान ढक्यौ अज्ञान तै मोहत प्राणी आप ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

जिनकौ ज्ञानप्रदीप तैं वह अज्ञान नसात ।
पारथ ! तिनके हृदय बिच ज्ञानभानु चमकात ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तामें निष्ठा बुद्धि रखि तत्पर ह्वै तद्रूप ।
ज्ञान नष्ट कल्मष लहैं अनावृत्ति कौ रूप ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ॥
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्या अरु आचारयुत ब्राह्मण गौ करि श्वान ।
और श्वपाकहु में सदा पण्डित जन सम जान ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः १९ ॥

जीवत वे जीतहिं जगत जिनकौ मन सम होइ ।
ब्रह्म सदा निर्दोष है ताहीं में थित सोइ ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

प्रियहु पाइ हर्षै न जो अप्रिय सों न दुखाइ ।
थिरमति ज्ञानी ब्रह्मविद ब्रह्मलीन ह्वै जाइ ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

अनासक्त जो विषय में आतम में सुख पाइ ।
ब्रह्मयुक्त आनन्दलह सो सुख कबहुँ न जाइ ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ॥
आद्यंतवंतः कौंतेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

विषय भोग दुखमूल हैं परस मात्र तिन्ह जान ।
नाशमान कुन्तीतनय ! नाहिं रमत मतिमान ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ॥
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

देहपात के पूर्व ही जो सहि लेत सुधीर ।
काम क्रोध के वेगकों वहि सुख पावत वीर ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ॥
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

सुख विश्राम प्रकाश जो निज आतम बिच पाइ ।
ब्रह्म रूप हुइ युक्त सो ब्रह्महिं बीच समाइ ॥ २४ ॥

लभंते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

पापमुक्त हुइ मुनि सदा लहत ब्रह्म निर्वान ।
गतसंशय यतचित्त जो ताकों सबहि समान ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ॥
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामक्रोधसों रहित अरु वशी विमलचित जोइ ।
आतम कों पहिचान कै ब्रह्म निकट रह सोइ ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥२७॥

बाह्य विषय कों बाह्य करि भ्रूबिच दृष्टि लगाइ ।
प्राण अपान समान करि जो नयनन बिचजाइ ॥ २७ ॥

यतेंद्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

इन्द्रिय मन बुधि रोकिकै मोक्षपरायण जोइ ।
विगत क्रोध भय कामना सदा मुक्त सो होइ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥२९॥

भोगी जप तप यज्ञ कौ जानत है जो मोइ ।
लोकनाथ जगमित्रहू शान्ति लहत है सोइ ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यास-योगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय ६

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

कार्य कर्म कों जो करै त्यागि कर्मफल भार ।
संन्यासी योगी वही नहिं निरगिन बेकार ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ॥
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

कह्यौ पार्थ ! संन्यास जो ताहि योगहू मान ।
जो संकल्पहि नहिं तजत योगी हू मत जान ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

कर्महि साधन होत है योग प्राप्ति लगि पार्थ !
योग प्राप्तिकर शमन पुनि कारण होत यथार्थ ॥ ३ ॥

यदा हि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियार्थ अरु कर्म में जो आसक्त न होइ ।
तजै सर्व संकल्पहू युक्त कहावै सोइ ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

मन तें मन कों उद्धरै कबहुँ न ताहि गिराइ ।

मनही मनकौ मित्र है मनहि शत्रु हुइ जाइ ॥ ५ ॥

बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जो जीतै मन तें मनहिं सो मन बन्धु कहाइ ।

अनजित मन रिपुता करै दुखदाई हुइ जाइ ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ॥

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शान्त जितेन्द्रिय पुरुष कों परमात्मा दरसात ।

शीत उष्ण सुख दुख न कछु ताकों कबहु सतात ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ॥

युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

तृप्तज्ञान विज्ञानमन होइ जितेन्द्रिय धीर ।

माटी पाथर स्वर्ण सम युक्त कहावत वीर ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ॥

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद मित्र मध्यस्थ रिपु उदासीन बिच जासु ।

साधु पाप बिच बुद्धि सम गनहु श्रेष्ठता तासु ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एकाकी यतचित्त अरु आश परिग्रह हीन ।

युक्त करै नित चित्त कों निर्जन में आसीन ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
शुचि प्रदेश में थापि कें आसन ठीक जमाइ ।
बहुत न ऊंच न नीच कुश अजिन वस्त्र फैलाइ ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
तहँ मन कों एकाग्र करि मन तें इन्द्रिन थाम ।
आत्म शुद्धि लागि बैठि तहँ योग करै निष्काम ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ॥
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
काया शिर ग्रीवा अचल धारि और थिर होइ ।
निज नासाग्रहि लक्ष्य करि दिश न विलोकै जोइ ॥ १३ ॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
शान्तचित्त निर्भय सदा ब्रह्मचर्य व्रत लीन ।
मन संयम करि चित्तकों मो में करि लवलीन ॥ १४ ॥
युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ॥
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
योगी ऐसें चित्त कों करत योग आधीन ।
मोकों परम प्रधान गिनि रहै युक्त आसीन ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ॥
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

बहुभोजी भोजनरहित अर्जुन ! अरु जो कोइ ।
स्वप्नशील निद्रारहित तिनकों योग न होइ ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ॥
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

सम आहार विहार सम चेष्टा कर्मन माहि ।
स्वप्न बोध सम दुःखहर पार्थ योग हो ताहि ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ॥
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८॥

आत्मा में ही चित्त जब अतिशय निश्चल होइ ।
सर्व कामनारहित तब युक्त कहावत सोइ ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ॥
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥१६॥

दीपक ज्यों निश्चल रहै जहाँ पवन नहिं जाइ ।
सो उपमा यतचित्त की आत्मयोग कों पाइ ॥ १६ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति २०

योग रीति सों रुद्ध चित जहाँ लेत विश्राम ।
आत्मा में सन्तुष्ट जहँ लखि कर आत्माराम ॥ २० ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

जहां अलौकिक सुख मिलै जो इन्द्रिन तें दूर ।
जहँ थित हटि नहिं तत्त्व सों ह्वैहै चकनाचूर ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जाकों लहिकर मनुज कों और न लाभ पसंद ।
जा में थिर हुइ कबहु नहिं परत दुःख के फंद ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जो वियोग दुखयोग कौ योग जानिये ताइ ।
ताहि लहहु निर्वेद बिन निश्चित चित्त लगाइ ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ॥
मनसैवेंद्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥

सबहि कामना त्याग करि जो उपजें मन माहिं ।
इन्द्रियगण कों रोकिकै मन तें चारहु ठाहिं ॥ २४ ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् २५

धीरै धीरै उपरमै बुधि तै लहि विश्राम ।
आतम बिच मनकों धरै चिन्तन सो नहिं काम ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चलति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

जब जब मन दौरै कितहुँ चंचल अस्थिर होइ ।
तब तब तुरतहिं रोकिकै आतमवश कर सोइ ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

शान्त होत मन जाहि कौ सो योगी सुखयुक्त ।
बिगतरजस निर्मल विमल ब्रह्मभूत अघमुक्त ॥ २७ ॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

यों योगी उद्यम करत मन कों सदा लगाइ ।
पापरहित अरु ब्रह्मरत शान्त अमित सुख पाइ ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

आपुन कों सब जीव में सबकों आपुन माहि ।
देखत योगी युक्त मन समदर्शी लखु ताहि ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो मोकों सब में लखै लखै सबहि मो माहिं ।
मैं अलभ्य नहिं ताहिकों सोउ अलभ्य मोइ नाहिं ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सब प्राणिन बिच जान मोइ भजै एकता पाइ ।
सो योगी मो में बसै कबहूं नहिं बिलगाइ ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्जुन ! जो सुख दुख लखत सबकं आपु समान ।
सब में जो समता लखै योगी परम सुजान ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच--

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ॥
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ३३

अर्जुन ने कहा ।

मधुसूदन ! यह आपुने कह्यो जो समता योग ।
ताकी थिर गति नहिं लखौं चंचलता संजोग ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

इन्द्रियक्षोभक दृढ़ बली मन चञ्चल है तात !
ताहि पवन सम रोकिबो मोकों कठिन लखात ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच--

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

मन चल दुर्निग्रह अहै जामें नहिं संदेह ।
तउ अभ्यास विराग तें रोक सकत हैं तेह ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अजित चित्त कों योग यह पारथ ! दुर्लभ जान ।
जो मन वशकर यतत हैं तिनकों है आसान ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच--

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥३७॥

अर्जुन ने कहा ।

अयती श्रद्धायुतहु जो योगभ्रष्ट हुइ जाइ ।
योग सिद्धि नहिं पाइकै कृष्ण ! कौन गति पाइ ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

दौनों हूं तैं भ्रष्ट हुइ फाटयो जलद समान ।
अबुध काह वह नसैगो ब्रह्ममार्ग अज्ञान ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

यह सब संशय कृष्ण तुम काटो दुखहंतार !
तुम बिनु या संदेह कौ कोउ न छेदनहार ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच--

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

पार्थ ! न इह नहिं और कहुँ नाश ताहिकौ होइ ।
दुर्गति पावत तात नहिं शुभकर्त्ता जग कोइ ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

दिव्यलोक में रमण करि कल्प अनेक बिताइ ।
जन्मत शुचि श्रीमन्त गृह योगभ्रष्ट पुनि आइ ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

बुद्धिमान योगीन के कुल में अथवा होइ ।
अस सम्भव अति कठिन है सहज न पावत कोइ ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

तहाँ लहत अभ्यास तैं पूर्व बुद्धि संजोग ।
तब कुरुनन्दन ! फिर करत सिद्धिहेत सो योग ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

बिवस पूर्व अभ्यास तें खिंचत योगयुत सोइ ।
पार योगजिज्ञासु सो शब्द ब्रह्म तैं होइ ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

यत्न करत यतमानहू योगी पापविमुक्त ।
जन्म जन्म अभ्यास तैं लहत परमपद युक्त ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः॥
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ४६

तपसिन तें योगी अधिक ज्ञानिन हूं तैं सोउ ।
कर्मिन हूं तैं पुनि अधिक अर्जुन ! योगी होउ ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ॥
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

श्रद्धायुत यतचित सदा भजै जु योगी मोइ ।
सब योगिन में श्रेष्ठतम सोइ बताओं तोइ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अध्यात्मयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥
ओ३म् तत् सत्

अध्याय ७

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः ॥
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

मोमें हुइ आसक्तमन मोरहि आश्रय पाइ ।
जा विधि योगी योगयुत मोइ जानै सुनु, ताइ ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

ज्ञान और विज्ञान मैं कहौं सकल यहि ठौर ।
जाहि जानि फिर नहिं रहै जानन कों कछु और ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

सिद्धिहेत नर सहस में यतन करै कोउ एक ।
सिद्धन में हूँ एक कोउ जानत मोइ सविवेक ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

महि जल पावक पवन नभ अहंकार बुधि चेत ।
या प्रकार मेरी प्रकृति आठ गुणन में लेत ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत ॥ ५ ॥

यह अपरा है अन्य जो परा प्रकृति कहलात ।
जीवरूप सो महाभुज ! जो जग धारत तात ! ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

इन दोउन तें भूत सब प्रकटत हैं अस जानु ।
अरु मोकों सब जगत कौ कर्त्ता हर्त्ता मानु ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मो सों परतर अन्य कछु अहै धनञ्जय ! नाहिं ।
मणिगण जैसै सूत बिच पोह्यौ जगमो माहिं ॥

अथवा

मो सों परतर कछु नहीं सुनु कुन्ती के पूत !
गुँथ्यौ मोहिमें जगत सब जिमि मणिगण बिचसूत ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

जल में रस शशि सूर्य में प्रभा अहौं सुन पार्थ !
शब्द प्रणव नभ वेद में पुरुषन में पुरुषार्थ ॥ ८ ॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्य गंध हौं भूमि में तेज अगिन में जान ।
सब भूतन में जीव हों तपसिन में तप मान ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

सब प्राणिन कौ पार्थ ! मोइ बीज सनातन मान ।
तेजवंत कौ तेज अरु धीमति की धी जान ॥ १० ॥

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ॥
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

बलहु मोइ बलवान कौ काम राग बिनु जान ।
काम जो धर्म विरुद्ध नहिं ताहू कों मोहि मान ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ॥
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

सात्त्विक राजस तामसिक हैं जो ये त्रय भाव ।
सो मोमें सब बसत हैं तिन्ह में मोइ न पाव ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् १३॥

इनहीं भावन में फँस्यो पारथ ! सब संसार ।
मो अक्षर कों नहिं लखत जो हों इनतें पार ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

दुस्तर दैवी गुणमयी मम माया लखु याहि ।
शरण मोर जो लहत है सोइ तरत है ताहि ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ॥
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

मूढ़ कुकर्मी अधम नर कबहुँ न पावत मोइ ।

माया तें हतज्ञान हुइ असुरभावयुत सोइ ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

अर्जुन ! चार प्रकार के सुजन भजत हैं मोइ ।
आर्त्त दरिद्री ज्ञानयुत अरु जिज्ञासू जोइ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

तिन्ह में ज्ञानी नित्ययुत एक भक्त बड़ होइ ।
ज्ञानी कों मैं परम प्रिय सोहू प्यारौ मोइ ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

ये सब पार्थ ! उदार मम आतम ज्ञानी होइ ।
सर्वोत्तम गति मोहि में लहत युक्तचित सोइ ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जनम के अंत में ज्ञानी पावत मोइ ।
वासुदेव ही सर्व अस जानत दुर्लभ सोइ ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ॥
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया २० ॥

निज स्वभाव तें नियत जो कामी अरु अज्ञान ।
सोहू नियमहि धारिकै भजत देवता आन ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ॥

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो जो जिह जिह भजत है श्रद्धायुत हुइ पार्थ !

तिहि तिहि में श्रद्धा अचल दैहों परम यथार्थ ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् २२॥

ता श्रद्धा सों युक्त हुइ ता सुर बिच चित देत ।

ताही सों सब कामना मेरे द्वारा लेत ॥ २२ ॥

अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ॥

देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥ २३ ॥

इन्ह मतिमंदिन कों फलहु नाशमान ही होइ ।

सुरकों सुरपूजक लहैं मोर भक्त लह मोइ ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ॥

परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

सर्वोत्तम परभाव मम नहिं जानत हैं अन्ध ।

तातें मों अव्यक्त कों व्यक्त गिनै मतिमन्द ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ॥

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् २५]

सबकों नाहिं दिखात हौं रहि माया के बीच ।

अज अरु अव्यय नहिं लखत मोकों जनता नीच ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ॥

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन २६ ॥

मैं जानत हौं जो भयौ जो है जो फिर होइ

अर्जुन ! मैं जानौं सबहि मोहि न जानै कोइ ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ॥
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

द्वंद्वमोह उत्पन्न जो राग द्वेष तें होइ ।
भारत ! सृष्टिविधान में प्राणिन मोहत सोइ ॥ २७ ॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

पापमुक्त जो नर अहैं जिनके पुण्य महान ।
द्वंद्वमोह तें छूटिकै भजत मोहि पहिचान ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् २९

जरा मरण मोक्षार्थ जो मम आश्रित ह्वै जाइ ।
ताहि कर्म सब ब्रह्म ही अध्यातम दरसाइ ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ॥
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

साधिभूत अधिदैव अरु साधियज्ञ जो मोइ ।
लखै युक्तचित अन्त में मोकौं जानै सोइ ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासू० ब्र० यो० श्रीकृष्णाऽर्जुन संवादे ज्ञानयोगोनाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति विज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥
ओ३म् तत् सत्

अध्याय ८

—:०:—

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ॥
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा !

कौन ब्रह्म अध्यात्म को कर्म कहत हैं काइ ?
पुरुषोत्तम ! अधिभूत अरु अधिदैव हू बताइ ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ॥
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

को अधियज्ञ शरीर में मधुसूदन भगवंत !
अन्त काल ताको कहो क्यहिविधि पावै संत ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

परब्रह्म अक्षर कह्यो अरु अध्यात्म स्वभाव ।
जन्म लहत प्राणी सबहि तातें कर्म कहाव ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

नाशमान अधिभूत हैं पुरुष कह्यो अधिदैव ।
मोहि जान अधियज्ञ तू तन बिच पार्थ ! सदैव ॥ ४ ॥

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५॥

अन्त काल मोकों सुमिरि जो कोउ त्यागत देह ।
मेरौ पद ताकों मिलै कछुक नाहिं संदेह ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

जो जो जा जा भाव कों सुमिरत छाँड़त देह ।
सो सो पारथ ! मिलत है भाव शीघ्र ही तेह ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

तातें मोकों हर घड़ी सुमिरहु मन बुधि लाइ ।
मोकों निश्चय पाइहौ करौ युद्ध तुम जाइ ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

योगी भल अभ्यास करि जब नहिं कितहुँ डुलाइ ।
ऐसे मनतें जो भजै परमपुरुष सोइ पाइ ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ॥
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

जो प्रेरक पालक सकल सूक्ष्म रूप तमपार ।
पुरुष पुरातन कवि विमल जो रविवर्ण अपार ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युतो योगबलेन चैव ॥
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

अन्तकाल मन अचल करि जो सुमिरत है ताइ ।
भक्तियोग सौभाग्यतें ब्रह्मरूप हुइ जाइ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदंति
विशंति यद्यतयो वीतरागाः ॥
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जाकों अक्षर कहत हैं श्रुति के जाननहार ।
जामें करत प्रवेश हू यती राग करि पार ॥
जाकी इच्छा करत हैं ब्रह्मचर्य व्रत धारि ।
ताही पद कौं करत हौं विवरण पार्थ ! सँभारि ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितोयोगधारणाम् १२

सब द्वारन कों रोकिकै मनहुँ हृदय बिच लाइ ।
माथ चढ़ावै प्राण निज थित हुइ योग कराइ ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ॥
यःप्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३ ॥

ओमेकाक्षर ब्रह्मकों जपत निरन्तर जोइ ।
मोकों सुमिरत चलबसै लहै परमपद सोइ ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ॥
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
जो अनन्यचित योगयुत ज्ञानी ध्यान लगाइ ।
निस दिन मोकों भजत है सुलभ होत हों ताइ ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥
नाप्नुवंति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
मोइ पाइ फिर जन्म हू नश्वर अरु दुख ठाम ।
नहिं पावत, पुनि पाइ करि सिद्धि परम अभिराम ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
ब्रह्मलोक हू पाइ कै लौटत है यह जान ।
मोइ पाइ पारथ ! जनम फिर नहिं पावत आन ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ॥
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
युग सहस्र कौ ब्रह्मदिन युग सहस्र की रात ।
जो जानत ये रात दिन जाननहार कहात ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
दिन में सब अव्यक्त तैं जीव प्रकट ह्वइ जाँइ ।
रात भये पुनि भूत सब ताही बीच समाँइ ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ॥
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

भूतग्राम सब होत है सदा रात बिचलीन ।
दिन के निकसे विवश सब जन्महि पार्थ! नवीन ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

तासों परतर जो अहै अलख सनातन सोइ ।
सब भूतन के नसत हू नसै न कबहूँ जोइ ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अच्छर अलख अगाध सो कहत परम गति ताहि ।
धाम परम सोइ जान मम जा लहि लौटत नाहि ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

जो व्यापक सब विश्व में जो भूतन कौ थान ।
परम पुरुष जो सो मिलै परमभक्त कों आन ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ॥
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

जब जब योगी त्यागि तनु लौटत है वा नाइ ।
ता अवसर कों कहत हों सुनहु पार्थ चित लाइ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अगिन जोत दिन शुक्ल पख अरु उतर छै मास ।
इनमें योगी प्राण तजि जाइ ब्रह्म के पास ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूम रात अरु कृष्ण पख दच्छिण के छै मास ।
चन्द्रलोक कों पाइ कै लौटत फेर निरास ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

शुक्ल कृष्ण ये मार्ग दोइ इनहिं सनातन जान ।
एक पाइ लौटन परत दूसर नहिं अस मान ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

इन मार्गन कों जानिकै योगी मोहत नाहिं ।
तातें पारथ ! तुम धरौ चित्त योग के माहिं ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ॥
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

वेदन में जो फल कह्यो यज्ञ दान तपयुक्त ।
ताहि लाँघि पर पद लहत योगी जीवनमुक्त ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० योगशास्त्रेऽक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति अक्षरब्रह्मयोगोनाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय ६

—:o:—

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ॥
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १॥

श्रीभगवान ने कहा।

तोइ असूयारहित सों ज्ञान और विज्ञान।
कहौं गोप्य अति जानि जेहि तरिहौ दुःख महान॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

गोपनीय अति विमल अरु उत्तम विद्या जोइ।
धर्मयुक्त अव्यय सुगम श्रेष्ठ प्रकट फल सोइ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ॥
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

याहि धर्म में जो पुरुष श्रद्धा राखत नाहिं।
सो मोक्षों नहिं पाइकै परत मृत्यु मुख माहिं॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४ ॥

अलखमूर्त्ति मोसों अहै व्याप्त सकल संसार।
सब प्राणी मोमें बसैं मैं नहिं प्राणि मझार॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

मोमें भूतहु नहिं टिकैं देख योगबल एहि ।
जातें मैं रहि पृथक ही पालों पोषों तेहि ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

पवन पार्थ ! सर्वत्र ज्यों नभ बिच करत पयान ।
त्यों मम आश्रितभूत सब निश्चित यह मत मान ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम् ॥
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

भूतग्राम मम प्रकृति कों कल्प अन्त में जाइ ।
सृजौं सबहि कुन्तीतनय कल्प आदि फिर ताइ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

आश्रय लै निज प्रकृति कौ सिरजों बारम्बार ।
इन सब प्राणिन कों अवश प्रकृति रूप अनुसार ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

सृष्टि कर्म के करन तें मोकों बन्धन नाहिं ।
उदासीन जिमि थिर रहौं नाहिं फँसत तिन माहिं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
हेतुनाऽनेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मोतें प्रेरित प्रकृत यहि रचै चराचर भूत ।
ता कारन जग होत है सुन कुन्ती के पूत ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ॥
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

करै अवज्ञा मूढ़ जो लखि मम नरतन भाव ।
सब भूतन कौ ईश पर जानत नाहिं प्रभाव ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

विफल कर्म आशा विफल ज्ञान विफल अरु चित्त ।
प्रकृति राक्षसी आसुरी सोइ मोहत है नित्त ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

भजत महात्मा मोहि नित मोमें ही चितलाय ।
सब भूतन कौ आदि लखि दैव प्रकृति कों पाय ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ॥
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

यश मेरौ गावत सदा यत करत व्रतधीर ।
युक्त भक्ति तें नमत पुनि मोहि उपासत वीर ! ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

ज्ञानयज्ञ तें दूसरे यजत उपासत मोइ ।
एक पृथक् बहुधा समुझि सब में व्यापक कोइ ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ॥
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

मैं क्रतु हों मैं यज्ञ हों मोहि स्वधा तू जान ।
मन्त्र औषधी घृत अगिन हुत मोही कों मान ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

मात पिता सब जगत कौ और पितामह मानु ।
धाता प्रभु ऋक साम यजु ओंकार पहिचानु ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत ॥
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गति भर्त्ता साक्षी प्रभू शरण मित्र अरु धाम ।
प्रभव प्रलय अरु बीज हों अरु लक्ष्मी कौ ठाम ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैं बरसावत मेह कों रोकत छाँड़त तात ।
अमृत मृत्यु सत असत हों सुनु पारथ ! यह बात ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते ॥
ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोक-
मश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

यज्ञ करत पापन दहत चाहत सुरपुर वास ।
पुण्य लहत सुरपुर बसत भोगत भोग विलास ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ॥

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

स्वर्गलोक सुख भोगिकै पुण्य क्षीण जब होत ।
काम्य कर्म अनुसार तब लौटत दूसर पोत ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

जो अनन्यमन भजत है मोकों चित्त लगाइ ।
योग क्षेमता युक्त कों पहुँचावहुँ हिय लाइ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ॥
तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अन्य देव हू पूजते जे चित श्रद्धा लाइ ।
पारथ ! सोहू मोहि कों पूजत विधि बिलगाइ ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

भोगी मैं सब यज्ञ कौ प्रभु अरु जग करतार ।
मोहि न जानत तत्त्व तें गिरैं सो बारम्बार ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ॥
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम्

सुरपूजक पावत सुरन पितरन तिनके भक्त ।
भूत पूजि भूतन लहैं मोकों मम आसक्त ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ॥
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

पत्र पुष्प फल जल जु कोउ भक्तिभाव तें देइ ।
शुद्ध बुद्धि की वस्तु तिह खइहों हर्षित लेइ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

करहु खाहु होमहु जपहु दान करहु कछु जोइ ।
कुन्तीसुत ! जो तप करहु करहु समर्पण मोइ ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ॥
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

या विधि सब शुभ अशुभ फल कर्मबन्ध छुट जाइ ।
आत्मयोगसंन्यासयुत मोकों मिलिहै आइ ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् २९

मैं सम सब भूतन विषें प्रिय अप्रिय नहिं कोइ ।
जो मोकों चित दै भजै मैं तिहि मोमें सोइ ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

भजत जु दुष्टाचार हू मोही में चित लाइ ।
सम्यक् व्यवसायी सुजन पारथ ! मानहु ताइ ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ॥
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

धर्मनिष्ठ हुइ शीघ्र ही नित्य शान्ति लह सोइ ।
पार्थ ! जानु मम भक्त को नाश कबहुँ नहिं होइ ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥

मेरौ आश्रय पाइकै पापी हू जो होइ ।
वैश्य शूद्र वनिता तथा लहहिं परमपद सोइ ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

क्यों नहिं विप्र पवित्र पुनि राजर्षी मम भक्त ।
अनित क्लेशमय लोक लहि भज मोहिं होइ विरक्त ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

मोमें चित्त लगाइकै पूजहु निस दिन मोइ ।
मो कहँ सब अर्पण करहु मिलै मोर पद तोइ ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राज-
विद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति राजविद्याराजगुह्ययोगोनाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १०

—:०:—

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ॥
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

महाबाहु ! फिरहू सुनहु परम वाक्य मम जोइ ।
प्रेमयुक्त तोतैं कहौं अति हितकारक सोइ ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

सुरगण और महर्षि कोउ मम सामर्थ्य न जान ।
सुरमहर्षिगण सबनसों प्रथम मोहि तू मान ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

जानै मोइ अनादि अज लोक महेश्वर जोइ ।
सब पापन तैं मुक्त है दिव्य ज्ञान लह सोइ ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

बुद्धि सत्य शम दम क्षमा अव्याकुलता ज्ञान ।
तुष्टि दुःख सुख भय अभय भव अभाव तपदान ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अयश अहिंसा यश तथा समता अरु सम भाव ।
मोई सों सब होत हैं पृथक पृथक कहलाव ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सात महर्षी पूर्व जो भये तथा मनु चार ।
सो मम मानसजात हैं तिनहीं तैं संसार ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

मेरी योगविभूति कौं जानत है जो पार्थ !
अचल योगयुत सो अहै मानहु वचन यथार्थ ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं सब को कर्त्ता अहौं मेरे तैं सब होइ ।
ऐसें निश्चल भावयुत संत भजत हैं मोइ ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ॥
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

मो में चित्त लगाइकै मोई में गत प्रान ।
आपस में मोकों कहहिं लहि रति तोष महान ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

या विधि जो मोकों भजैं सदा प्रीति चित लाइ ।
बुद्धियोग तेहि देत हूँ जातें मोहिं मिलिजाइ ॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ॥

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

दया हेतु तिन पै महा करिकै ज्ञान प्रकाश।

आतमभाव थिर करत हौं अज्ञानज तम नाश ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ॥

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

अर्जुन ने कहा।

परब्रह्म परधाम अरु परम पवित्र महान।

पुरुष सनातन दिव्य अरु आदिदेव भगवान ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ॥

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

आदिदेव विभु सब कहत देवर्षी करि गान।

असित व्यास देवल सबहि अरु नारद मतिमान ॥ १३ ॥

अथवा

ऐसे तुम हो कहत सब ऋषि नारद मतिमान।

असित व्यास देवल तथा आपहु करत बखान ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥

नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

केशव ! जो तुम कहत हो सत्य वचन है सोइ।

प्रभजी तब संभव नहीं लखैं सुरासुर कोइ ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

आप आप कौं आपही जानत हौ भूतेश !
पुरुषोत्तम ! विश्वेश ! प्रभु ! जगकर्त्ता ! देवेश ! ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि १६

आपन दिव्य विभूति की कहौ कृपा करि गाथ !
जिनतैं इन लोकन बसौ व्याप्त होइ यदुनाथ ! ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ॥
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

केहि प्रकार चिंतन करत जानूँ योगी तोइ ।
किन किन भावन में करूं तव चिन्तन कहु मोइ ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ॥
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

निज विभूति अरु योग पुनि कहौ सहित विस्तार ।
अमृतोपम सुनि वचन तव होत न तृप्ति हमार ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

हे अर्जुन ! मैं कहत हौं दिव्य विभूति प्रधान ।
नहिं जिनको कोउ अन्त है, मम विस्तार महान ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

मैं आतमा सब भूतचित रहों पार्थ यहि जान ।
आदि अन्त अरु मध्य हों भूतन कौ असमान ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ॥
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

आदित्यन में विष्णु मैं ज्योतिन में पुनि भानु ।
मरुतन मध्य मरीचि हों नखतन में शशि जानु ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदन बिच हों साम पुनि इन्द्र सुरन में मान ।
इन्द्रिन में मन चेतना भूतन की मोइ जान ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्रन में शंकर अहौं यक्षन माहिं कुबेर ।
अष्टवसुन में अग्नि पुनि पर्वत बीच सुमेर ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

पुरोहितन में मुख्य मोइ पार्थ ! बृहस्पति जान ।
कार्त्तिकेय सेनपन में सर बिच सागर मान ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महा ऋषिन बिच भृगु अहौं प्रणव गिराबिच मान ।
यज्ञन में जपयज्ञ मैं हिमगिरि गिरि बिच जान ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

नारद देवऋषीन बिच पीपल वृत्तन माँहि ।
गंधर्वन में चित्ररथ कपिल मुनिन में आँहि ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अश्वन में उच्चैश्रवा अमृतोद्भव मोहिं जान ।
दन्तिन बिच ऐरावतहु नरपति नर बिच मान ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ॥
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अस्त्र शस्त्र बिच वज्र हौं सर्पन वासुकि नाम ।
धेनुन में सुरधेनु मैं प्रजनन बिच हौं काम ॥ २८ ॥

अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

नागन बीच अनन्त मैं यादन में जलदेव ।
पितरन में हौं अर्यमा शासक बिच यम लेव ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्यन में प्रह्लाद हौं गणितज्ञन बिच काल ।
पशुन मध्य में सिंह हौं खग बिच विनतालाल ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ॥
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

शुचिकर्तन में पवन हौं शस्त्रधारि बिच राम ।
मकर झषन में सुरसरित नदियन में बढ़ धाम ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ॥
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

आदि अन्त अरु मध्य मोइ सृष्टिन कौ पहिचान ।
विद्यन में अध्यात्म हौं वाद प्रवादिन मान ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ॥
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

वर्णन माँहि अकार हौं द्वन्द्व समासन माँहि ।
काल विधाता विश्वंमुख हौं जो नाँहि नसाँहि ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ३४

मृत्यु सर्वहर जान मोइ भाग्य भविष्यन माँहि ।
नारिन में वाणी क्षमा धृति मेधा जो आँहि ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ॥
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

गायत्री मैं छन्द बिच बृहत्साम बिच साम ।
मासन में अगहन अहौं ऋतुन वसंतहि नाम ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ३६

तेजस्विन में तेज मोइ जुआ छलन में जान ।
जय हौं अरु व्यवसाय हौं गुण बिच सत्त्व महान ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ॥
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वासुदेव यादवन में अर्जुन पण्डन माँहि ।
मुनिन मध्य मैं व्यास हौं शुक्र कविन के ठाँहि ॥ ३७ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ॥
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

शासक कौ मैं दण्ड हौं नीति विजयि की जान ।
मौनी कौ मैं मौन हौं ज्ञानवान को ज्ञान ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

सब भूतन कौ बीज जो मैं ही पारथ ! सोइ ।
मेरे बिनु जंगम कबहु थावरहू नहिं होइ ॥ ३९ ॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

मेरी दिव्य विभूति कौ अन्त कबहु नहिं होइ ।
सूक्ष्म रूप तैं मैं कह्यो तुमहिं परन्तप ! सोइ ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो जो वस्तु विभूतियुत श्रीयुत ऊर्जित होइ ।
अर्जुन मेरे अंश तैं निश्चय उपजत सोइ ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा बहु विस्तार तें पार्थ ! प्रयोजन काह ।
एक अंश सों धारि जग थित हों सुनु नरनाह ! ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूति-
योगोनाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इति विभूतिविस्तारयोगानाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥
ओ३म् तत् सत्

अध्याय ११

—:०:—

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

दया धारि अति गुह्य जो अध्यातम भगवान ।
वचन कह्यो तातें प्रभो यह मम मोह विहान ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ॥
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

कमलनयन ! तुमतें सुन्यो भूतन कौ भवनाश ।
अरु अव्यय माहात्म्य कौ तुमने कियौ प्रकाश ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

सब यथार्थ जो तुम कह्यौ आतम विषै भगवान !
देखन चाहों हों प्रभो तेरौ रूप महान ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानव्ययम् ॥ ४ ॥

मेरे देखन जोग जो मानत प्रभु ! तुम सोइ ।
तौ तुम अव्यय रूप कौ दरस दिखाओ मोइ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

श्रीभगवान ने कहा ।

मेरे देखो सैकड़न पार्थ ! हजारन रूप ।
नाना विधि अति दिव्य अरु नाना वरण अनूप ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

भारत ! लखु आदित्य वसु अरु लखु अशुनिकुमार ।
रुद्र मरुत जे नहिं लखे लखु आश्चर्य अपार ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

सचर अचर सब जगत कों देखहु एकहि ठौर ।
मेरे तन में, देखनो चाहत जो कछु और ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

तुम इन आँखिन सों कबहु देखि न सकिहौ मोइ ।
दरसप्राप्ति हित देतहौं दिव्यदृष्टि मैं तोइ ॥ ८ ॥

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ॥
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय ने कहा ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अस कहि सुनहु नरेश !
दिखरावा कौन्तेय कों परम स्वरूप विशेष ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

मुख अरु नयन अनेक जहँ अद्भुत दरश अनेक ।
दिव्याभरण अनेक अरु उद्यत शस्त्र न एक ॥ १० ॥

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्य गंध लेपन तथा दिव्य वसन वर माल ।
सर्वाश्चर्य अनंत सो सब विधि वक्त्र विशाल ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ॥
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः १२

रवि सहस्र को एकदा नभ प्रकाश जस होइ ।
तेज महात्मा कौ अमित ता सम लखियै सोइ ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ॥
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

ता एकहि में सर्व जग बस्यौ अनेक प्रकार ।
देवेश्वर के अंग में लख्यो पार्थ तिहि बार ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ॥
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

भयो धनंजय चकितचित अरु अति पुलकित गात ।
हाथ जोरि शिर नाइकै प्रभु सों बोल्यौ बात ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ॥
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन ने कहा ।

हे देवदेव जगत्पते ! तब देह में मैं देखता ।
सम्पूर्ण प्राणि विशेष का दल और सारे देवता ॥
ब्रह्मा विराजे दीखते आसन कमल के पै वहां ।
सब दिव्य देह महर्षि पन्नग देख पड़ते हैं जहां ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ॥
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

अगनित उदर मुख नेत्र बाहू दीखते तेरे प्रभो !
चहुँ ओर तें बिनु अन्त भासत रूप तेरौही विभो ॥
नहिं आदि मध्य न अन्त तेरौ जाइ मोपै कछु लखौ ।
विश्वेश ! तुम हो विश्वरूप दया सदा मोपै रखौ ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ॥

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

उन्नत विशाल सुभाल पर सुंदर किरीट दिये हुए ।
कर में गदा कौमोदकी अरु चारु चक्र लिये हुए ॥
अनुपम अगिन रवि तुल्य तेज दिगंत में फैला रहे ।
चहुँ ओरतें यों जगमें गावत हे प्रभो तुम दिख रहे ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

तुमज्ञेय हो अक्षर परम हो विश्व के निधि हो तथा ।
अव्यय सनातन धर्मरक्षक तव परमपावन कथा ॥
मेरी समझ में हो सनातन बस तुम्हीं संसार में ।
और हो पुरुष केवल तुम्हीं यह जान पड़ता है हमें ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्य-
मनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ॥
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥ १९ ॥

शशि सूर्य नेत्र अनन्त बाहु अनन्त वीर्य अनन्त कों ।
मैं आदि मध्य विहीन देखों आपु श्रीभगवन्त कों ॥
अत्यन्त दीप्त हुताश सम मुख ज्योति वाले आपुहो ।
या विश्व कों निज तेजसों प्रभुजी तपावत आपुहो ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ॥
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

आकाश भूतल मध्य में जो है प्रभो ! यह अन्तराल ।
अरु सब दिशा हू व्याप्त हैं तुम एकसों ही विश्वपाल ॥
यह देखि कै विकराल रूप विशाल अनुपम जो अहै ।
त्रैलोक्य है भयभीत कैसे तेज तेरौ सहि सकै ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

ये प्रभो ! अगनित अमरगन देह तेरे में पड़े ।
कोउ कोउ अति भयभीत ह्वै कर हाथ जोडेहैं खड़े ॥
''स्वस्ति'' कहि कहिकै महर्षी सिद्धगण अस्तुति करैं ।
विश्वेश ! पूरी रीतिसों तेरी, तथा दर्शन लहैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ॥
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

आदित्य वसु गंधर्व रुद्र समीर विश्वेदेवहू ।
अश्विनिकुमार मुनीशगण अरु पितर ठाढ़े दिश चहू ॥

हे विश्वरूप जगत्पते ! सब रूप तेरौ लखि रहे ।
है चकित चित दृगफारिकै, आश्चर्य में सब मुग्ध से॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ॥
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

बहु नेत्र मुख भुज जघन पाद प्रभूत दंष्ट्रासों कराल ।
बहु जठर रूप महान लखि तव व्यथित मैं अरु लोकपाल ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ॥
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा
धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

हे विश्वपति ! आकाश तें पृथ्वी तलक तुम लग रहे ।
बहु वर्ण नेत्र विशाल मुख चहुँ ओर फैले दिख रहे ॥
त्रैलोक्य भासक तेजपुंज न कोउ जाकों सहिसकै ।
धीरज छुड़ावत मोर नहिं कोउ और हू धीरज धरै ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ॥
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

प्रलयकालिक अगिन सम डाढ़ें कराल विलोकिकै ।
संदीप्त भयकारक, मुखनकों ताकि नहिं धीरज रहै ॥

मोकों कछुक नहिं सूझ आवत दिसनकों भूलत अहों।
मोपरि दया करु नाथ! जगधर! देवदेव! अधीरहों ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ॥
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

ये पुत्र सब धृतराष्ट्र के भगवन्! महीपति और हू।
भीषम अचारज द्रोण राधापूत हे श्रीनाथ जू॥
नेता हमारी सेन के हू जो इहाँ आये लड़न।
मित्रारि दोऊ दलन के हे दुःखभयदारिदहरन! ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ॥
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु
संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

तेरे मुखन बिच शीघ्र धसते जो भयानक उग्र हैं।
जिनकी कराल विशाल डाढ़ें अगिन सम दस दिश दहैं।
कोउ कोउ डाढ़न बिच लटकते दृष्टिगोचर हैं विभो!
शिर चूर्ण जिनके ह्वै रहे नहिं बचत दीखत हैं प्रभो!॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽबुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ॥
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥

जैसे नदी बहु वेगतें धावत दिखाई देत हैं ।
अरु पहुँच करि तट निकट वे सब परत धाइ समुद्र में ॥
तैसेहिं ये नरपाल हू सब आपु के मुख में धसैं ।
अरु अगिन सम विकराल डाढ़न बीच पिसते दिखपड़ें ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ॥
तथैव नाशाय विशंति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे भड़कती अगिन बिच आकर स्वयं पड़ते पतंग ।
अरु नाश होजाते वहीं जलकर झुलस कर एकसंग ॥
तैसेहि ये धावत विवश सब लोक हू सर्वस विभो !
तुम्हरे मुखन बिच धाइकै नस जा रहे हैं हे प्रभो ! ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ॥
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥

व्याप्त करि सब जगत कों निज तेजसों चहुँ ओरतें ।
ग्रसते ज्वलित तुम मुखनि तें सब लोकगण कों चाटते ॥
हे देव व्यापनशील सब जग मांहि संतत हे विभो !
तव दीप्ति है अति उग्र जो सब कों तपाती है प्रभो ! ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ॥

विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मोंको बताओ देववर ! तुम कौन हो का करत हो।
क्यों रूप यह धारण कियौ ? मोपरि दया करि सो कहो ॥
जानन चहत हों हे दयामय ! खोलदो इस भेद को।
कारण नहीं मैं जानता मुझको बताओ हे प्रभो ! ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ॥
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

लोकगण कौ नाशकर्त्ता बढ़ि रह्यौ मैं काल हों।
नाश लोकन कौ करनकों यहँ उपस्थित आज हों ॥
योधा खड़े जो प्रति अनी जिन देखता तू है यहाँ।
तू भी न मारैगा जो इनको तो भी बच सकते कहाँ ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तातें उठौ अर्जुन ! लड़ौ यश लेउ शत्रुन जीतिकै।
राज्य सुख अरु सम्पदा के भोग भोगौ नीति तैं ॥

पहिले ही मैंने इन सबनकों मार डारौ है इहाँ ।
सव्यसाचि ! निमित्त लगि होजाउ ठाड़े तुम वहाँ ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ॥
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युद्ध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

पहिले ही मैंने मार डारे हैं सबी योधान को ।
भीषम जयद्रथ कर्ण द्रोण समस्त सेनप हू अहो ! ॥
मेरे ही मारे मार तू, मत तू दुखी हो, मित्रवर !
जीतैगा शत्रुन कों समर बिच, वेगि उठकै युद्धकर ॥ ३४ ॥

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ॥
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय ने कहा ।

या भांतितें श्रीकृष्णजी के पार्थ सुनिकै ये वचन ।
कर जोरि थरथर कांपता विश्वेश सों लागा कहन ॥
गद्गद गिरा है नमत पुनि पुनि और भुइँ में लोटता ।
विस्मित हृदय कछु गिड़गिड़ाता और पुनि कछु सोचता ३५ ॥

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति
सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा।

आनन्दमय यह उचित ही है विश्व सब हे विश्वरूप !
तेरी प्रशंसा कीर्ति करिकै प्रेम पद पावत अनूप ॥
पूर्वादि दिशिकों नाथ ! निश्चर डरत काँपत द्रवत हैं।
समुदाय सिद्धन के चहूँ दिस दृष्टिगोचर नमत हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥
अनंत देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

वे सब नमन क्यों नाहिं करें तुम देवदेव अनन्त हो।
गुरुतम महात्मा आपु हो स्रष्टाहुतें बढ़ कर प्रभो ! ॥
जो कछु असत सत है इहां तुम ताहुतें ऊपर रहौ।
देवेश अक्षर ब्रह्म तुम जगदीश तुम ही कों कहौ ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ॥
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥

तुम आदिदेव पुराण पूरुष विश्वधाम विशाल हो।
वेत्ता तुम्हीं अरु वेद्य हू परधाम जग में व्याप्त हो ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

आपु ही तौ वायु हैं यम अग्नि वरुण शशाङ्क हू ।
आपुहि पितामह तिनहु के प्रपितामहहु हे नाथजू ॥
मैं नमन करता आप को हे विश्वपाल हजारबार ।
फिरहू प्रणत है दण्डवत करता हों तुमको बहुप्रकार ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ॥
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अग्रतें अरु पृष्ठतें सब ओरतें तुमको प्रभो !
हे सर्वरूप सदा हमारी बार बार नती विभो ! ॥
अति अमित विक्रम तथा बलकों नाथ तुम नित धरत हो ।
हो सर्व तुम या हेतु तें सब जगत व्यापन करत हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

तेरी प्रभो इस भांति महिमा को नहीं जिय जानिकें ।
संप्रीतितें वा भूलतें तुमको सखा निज मानिकें ॥

मैंने तुम्हें यदि कृष्ण यादव हे सखा बोला कड़ा ।
उपहाससहित जो आपुकों कीया असत्कृत हो बड़ा ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ॥
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

विहार शय्यासन भोग माहीं
परोक्ष प्रत्यक्ष अकेल जाहीं ॥
कहूँ असत्कार कियो प्रभो ! जो
क्षमो, क्षमा मांगहुँ आपसों सो ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ॥
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

तिहुँलोक में हे नाथ ! तेरौ अति अपार प्रभाव है ।
तेरे समान न और कोऊ अधिक कौ कहँ भाव है ॥
इस चर अचर संसार के भगवन् पिता हो आपुही ।
सब से बड़े गुरुदेव हू हो देवदेवहु आपु ही ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ॥
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तनकों नवाइ प्रणाम करि परसन्न हम तातें करें ।
जैसे पिता अपराध पुत्रनकौ सहन मन सों करें ॥
अरु मित्र मित्रन के यथा प्यारे पियारिन के करें ।
तैसेहि मेरे दोष हू प्रभु सहन अब आपहु करें ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ॥
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

मोकों बड़ौ ही हर्ष अद्भुत रूप कों लखिकै भयौ ।
डरतें मनहु व्याकुल रह्यौ नहिं जाइ कछु मोपै कह्यौ ॥
तातें कृपा करि पूर्वरूपहि फेर मोइ दिखाइकै ।
सांत्वन करौ हे विश्वभासक ! विश्वरूप हटाइकै ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ॥
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

माथे मुकुट धारण किये कर में सुचक्र गदा लिये ।
दर्शन चहत हों फेर तुम्हरे जैस तुम पहिले दिये ॥
ताही प्रभो ! नररूप कौ पुनि आपु दर्शन दीजिये ।
हे विश्वरूप सहस्रबाहो ! अब कृतारथ कीजिये ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥

तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

तेरे सिवा नहिं दूसरे ने जो कबहुँ देख्यौ अनूप ।
मैंने मुदित ह्वै के दिखायौ योगबलतें वह सरूप ॥
व्यापक विशाल अनन्त जो है तेज सों परिपूर्ण जो ।
जो सब तें उत्तम रूप है अरु विश्व कौ आधार सो ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ॥
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

नहिं वेदसों नहिं यज्ञसों नहिं दानसों तपसों नहीं ।
नहिं अन्यहू व्रत कठिन सों यह रूप दीखत है कहीं ॥
या लोक में तौ कितहु नहिं कोऊ सकत है वीरवर !
देखन जो तैंने आजही देखौ है अर्जुन ! दृष्टिभर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ॥
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अर्जुन ! डरहु मत देखिकै या घोर रूप प्रचण्ड को ।
धीरज धरहु मन थाम करि दिलकों दिलासः मित्रदो ॥

भय त्याग करि ह्वै मुदित मन अब देख तू मोंको वही ।
अब मैं दिखावत हौं असल सूरत जो पहिले की रही ॥ ४९ ॥

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ॥
आश्वासयास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय ने कहा ।

ऐसे कहि हरि पार्थ तें फेरि होइ शुभ रूप ।
पूर्व दिखायौ रूप निज निर्भय कियो सो भूप ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ॥
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन ने कहा ।

लखि तव मानुष रूप यहि सुनहु जनार्दन ! बात ।
शान्त भयो अब चित्त मम अरु प्रफुलित है गात ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ॥
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

जो तैंने अर्जुन ! लख्यो दुर्लभ अति सो रूप ।
नित्य देवगण हू चहत देखन सोइ अनूप ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जो तोकौं दर्शन मिल्यौ और न पावत कोइ ।
वेदपाठ तप दान मख करतहु मिलै न सोइ ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

विश्वरूप दर्शन चहै मोर परंतप जोइ ।
एकहि साधन ताहि कौ भक्ति अनन्यहि होइ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ॥
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

मेरे ही हित कर्म करि मो में चित्त लगाइ ।
सङ्ग रहित निर्वैर सो भक्त मोर पद पाइ ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति विश्वरूपदर्शनयोगोनाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १२

—:o:—

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

यहि प्रकार नित युक्त है भक्त भजत जो तोइ ।
अरु जो अज अक्षर भजैं तिन्ह में उत्तम कोइ ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

जो मो में मन लाइकै भजै नित्य युत मोइ ।
पर श्रद्धा संयुक्त वह मम मत उत्तम होइ ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

जो अचिन्त्य अक्षर अकथ अरु कूटस्थ महान ।
सर्व व्याप्त अव्यक्त पुनि नित्य अचल भगवान ॥ ३ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

समदर्शी सर्वत्र जो सबकौ हितकर होइ ।
सब इन्द्रिन कों जीति तिह भजै सो पावै मोइ ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

निर्गुण में रत चित्त जे तिनकों दुख अति होइ ।
निराकार अव्यक्त गति सहज सुलभ नहिं कोइ ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥

मो में ही सब कर्म तजि मो में ध्यान लगाइ ।
मोकों ह्वै तत्पर भजै सो अनन्य गति पाइ ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

या विधि निस दिन प्रेमयुत मोर लगन है जाइ ।
शीघ्र मृत्यु संसार तें मैं उधरत हों ताइ ॥

अथवा

यहि विधि निस दिन प्रेमयुत मोर लगन है जाइ ।
भवसागर तें शीघ्र ही मैं उधरत हों ताइ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

तातें मो में मन धरहु मो में बुद्धि लगाउ ।
आगे मोही में बसहु मन में निश्चय लाउ ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

जो मो में नहिं धर सकत मन कों थिर कौन्तेय !
तौ तू मेरी प्राप्ति लगि योगहि में चित देय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ॥
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासहु जो नहिं बनै करहु पार्थ मम कर्म ।
मेरे हित कर्महु करत पावहुँ सिद्धि सधर्म ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

याहू के तू करन कों जो नहिं समरथ होइ ।
सब कर्मज फल त्यागि करि आश्रय लगि गहु मोइ ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ॥
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥१२॥

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास तें ज्ञानहुँ तें बढ़ ध्यान ।
कर्मज फल कौ त्याग पुनि जाते शान्ति मिलान ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

द्वेष रहित करुणायतन जो सबको हितु होइ ।
निर्मम निरहङ्कार सम क्षमावान जो कोइ ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

दृढ़ निश्चय सन्तुष्ट नित योगी यतचित जोइ ।
मो में अर्पित चित्त बुधि भक्त मोर प्रिय सोइ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जो काहू सों नहिं डरत नाहिं डरावत जोइ ।
हर्ष क्रोध उद्वेग भय मुक्त मोर प्रिय सोइ ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

निस्पृह चतुर पवित्र अरु उदासीन जो होइ ।
व्यथा रहित त्यागी परम भक्त मोर प्रिय सोइ ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥१७॥

जाकों हर्ष न शोक कछु इच्छा द्वेष न होइ ।
त्यागी शुभ अरु अशुभ कौ भक्त मोर प्रिय सोइ ॥ १७ ॥

शमः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥

शत्रु मित्र में सम तथा समहि मान अपमान ।
संग रहित शीतोष्ण सुख दुख में एक समान ॥ १८ ॥

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ॥
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

सम निन्दा स्तुति धीर गृह रहित मौनयुत जोइ ।
यथा लाभ संतुष्ट जो भक्त मोर प्रिय सोइ ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

यहि धर्मामृत जो करत श्रद्धायुत नर पान ।
मो में तत्पर रहत मम भक्त परम प्रिय जान ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगोनामद्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १३

—:०:—

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ॥
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

प्रकृति कहा अरु पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ।
ज्ञान ज्ञेय कौ भेद हू जानन चहों सर्वज्ञ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा ।

यहि शरीर कुन्तीतनय क्षेत्र कहावत तात !
जो जानत है क्षेत्र कों सो क्षेत्रज्ञ कहात ॥ २ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥

हे भारत ! क्षेत्रज्ञ मोइ सब क्षेत्रन में मान ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कौ सब तें उत्तम जान ॥ ३ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ॥
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥

कहा क्षेत्र का विधि अहै कहा कार्य है तासु ।
ताकौ कहा प्रभाव है मोतें सुनहु समासु ॥ ४ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

बहु प्रकार ऋषिवृन्द ने गायौ है यहि ज्ञान ।
ब्रह्मसूत्र पद बीचहू ताको अहै बखान ॥ ५ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ६ ॥

महाभूत हंकार पुनि बुद्धि और अव्यक्त ।
पञ्च विषय इन्द्रियन के दस इन्द्रिय इक चित्त ॥ ६ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

इच्छा धीरज चेतना सुख दुख अरु संघात ।
द्वेष सहित संक्षेप यह क्षेत्रविकारि कहात ॥ ७ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ॥
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥

क्षमा अहिंसा सरलता शौच अदम्भ अमान ।
मननिग्रह थिरता तथा गुरुसेवा सन्मान ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥

इन्द्रियार्थ वैराग्य पुनि संतत अनहंकार ।
जन्म जरा रुज मृत्यु के बहु विधि दुःख विचार ॥ ९ ॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥

अहंभाव आसक्ति नहिं पुत्रादिक में जाइ ।
सदा रहै समचित्तता इष्ट-अनिष्टहु पाइ ॥ १० ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥

छाँड़ि अन्य की लगन कों अटल भक्ति मो पाहिं ।
सेवन करत इकंत कौ रमत न बहु जन माहिं ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ॥
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥

आत्मज्ञान दृढ़ता सदा तत्त्वज्ञान फलदृष्टि ।
ज्ञान होत इनतें, अलग अज्ञानहि की सृष्टि ॥ १२ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३ ॥

कहहुँ जो जानन जोग है और मुक्तिदातार ।
कहत बनै सदसत न सो ब्रह्मअनादि अपार ॥ १३ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥

जाके हैं सब ओर कों हाथ पाँव मुख कान ।
मस्तक नेत्र अनन्त, जो सब में व्याप्त महान ॥ १४ ॥

सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् ॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥

सर्वेन्द्रिय भासक सदा यद्यपि इन्द्रियहीन ।
पृथक रहत सब कों धरत निर्गुण गुणविचलीन ॥ १५ ॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ॥
सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥१६॥

भीतर बाहर सबन के चरहु अचर है जोइ ।
सूक्ष्मरूप अज्ञेय पुनि दूर निकट हू सोइ ॥ १६ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

भूतन माहिं बट्यौ न सो बट्यौ समान लखात ।
भूतन कौ स्रष्टा वही पालक घालक तात! ॥ १७ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१८॥

वहि जोतिन की जोति है तमतें परे कहाइ ।
ज्ञान ज्ञेय अरु गम्य है सब के हृदय फुराइ ॥ १८ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥

ज्ञान ज्ञेय अरु क्षेत्र हू तो कों दिये बताइ ।
जिनहि जानि मेरौ भगत मो बिच जात समाइ ॥ १९ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥२०॥

प्रकृति पुरुष इन दोउन को सदा अनादिहि मान ।
गुणविकार कों प्रकृतितें जात पार्थ! पहिचान ॥ २० ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥

कर्त्ता कारण कार्य में प्रकृति हेतु कहि जाइ ।
सुख दुख अरु भोगन विषै हेतु पुरुष कहलाइ ॥ २१ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ॥
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥

भोगत प्रकृतिस्थित पुरुष प्रकृतिजाति गुणग्राम ।
ताही कारण लहत है जन्म असत सत ठाम ॥ २२ ॥

उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ॥
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२३॥

दृष्टा अनुमन्ता विभू भर्त्ता भोक्ता जोइ ।
परमात्मा जाकों कहत फुरै देह बिच सोइ ॥ २३ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥२४॥

प्रकृति पुरुष गुण सहित जो ऐसें जानै कोइ ।
सब विधि ह्वै वर्तत भयौ फिर नहिं जन्मत सोइ ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ॥
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २५ ॥

कोउ मत में आतम लखैं आतम द्वारा बुद्ध ।
सांख्ययोग अरु कर्म तें लखते अन्य प्रबुद्ध ॥ २५ ॥

अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ॥
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥

जो नहिं जानत युक्ति यहि औरनतें सुनि ध्याहिं ।
श्रद्धा तें उपदेश गहि मृत्युपार है जाहिं ॥ २६ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम् ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! चर अचर जो जन्मत सत्व लखात ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संजोगहितें जात ॥ २७ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ॥
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति २८ ॥

सब भूतन बिच सम रहै परमेश्वर भगवान ।
नशै न अन्य विनाश बिच यहि है सत्यज्ञान ॥ २८ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परांगतिम् २९

लखै जो व्यापक ईश कों सब थल में सम भाव ।
हनै न आतम आत्मतें तबहि परमगति पाव ॥ २९ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ॥
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ३० ॥

प्रकृती सोंही कर्म सब किये जात मतिमान !
आतम अकर्त्ता है सदा, यहि सिद्धांत महान ॥ ३० ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३१ ॥

न्यारे भूतन कों जबहि ब्रह्मस्थित लखि जोइ ।
लखै तैस विस्तार भव लहै ब्रह्म तब सोइ ॥ ३१ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ॥
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥ ३२ ॥

यहि अव्यय परमात्मपद अगुण अनादिहु जोइ ।
तन में रहि कुन्तीतनय ! करै न फँसिहै सोइ ॥ ३२ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ॥
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३३ ॥

सूक्ष्मता तें नभ यथा सब थल रहि न फँसाइ ।
त्यों परमात्मा सर्वथित फँसत देह बिच नाँइ ॥ ३३ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३४॥

जैसे सूर्य अकेल ही सब जग करत उजास ।
तैसहि पारथ ! देह कों देही करत प्रकास ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा ॥
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥३५॥

भेद क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कौ ऐसें जानै जोइ ।
भूतप्रकृतिविस्तार हू लहत परमपद सोइ ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इति क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगोनाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १४

—:०:—

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ॥
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्रीभगवान ने कहा ।

सब ज्ञानन में ज्ञान जो परम ज्ञान कहलात ।
जाहि जानि मुनि मुक्त भए ताहि कहत हों तात ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥

लहि आश्रय जा ज्ञान कौ मम सधर्मता पाइ ।
सृष्टिकाल जन्मत नहीं क्षय में पीडित नाइ ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

महद् ब्रह्म निज योनि में गर्भहि धारों जोइ ।
सम्भव सब प्राणीन कौ भारत ! तातें होइ ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः ॥
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

कुन्तीसुत ! सब योनि में मूरति उपजे जोइ ।
महत योनि तिनकी गनौ पिता बीजप्रद मोइ ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत रज तम ये गुण सदा प्रकृतिहि तें उपजाहिं ।

तनधारी अविनाशि कों बाँधत हैं तन माहिं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ॥

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

निर्मलता तें सत तहाँ अरुज प्रकाशक आहि ।

अनघ ! ज्ञान सुख सङ्गतें बाँधत है सो ताहि ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ॥

तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

राग रूप रज कों गिनौ तृष्णा सों उपजाइ ।

बाँधै देहिन पार्थ ! यहि कर्म संग में लाइ ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

मोहै सब प्राणिन सदा अज्ञानज तम जोइ ।

आलस नींद प्रमादतें बाँधत भारत सोइ ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ॥

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत सुख में रज कर्म में तम प्रमाद में पार्थ !

ढकि प्राणिन के ज्ञान कों फाँसत जान यथार्थ ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ॥

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

प्रबल सत्त्व कहुँ होत है कबहुक रज की जीति ।

कहुँ कहुँ तम बाढ़त अहै यहि ही इनकी रीति ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ॥
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

या तन के सब द्वार बिच जब प्रकाश हुइ जाइ ।
ज्ञान बढ़ै तब जानिये चमक्यौ सतगुन आइ ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ॥
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भारत ! रजगुण बढ़ै प्रकट होत हैं याह ।
लोभ कर्म आरम्भ अरु प्रबल अचैनी चाह ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ॥
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! तम के बढ़ै उपजत हैं पुनि जोइ ।
अप्रकाश रुचिहीनता मोह प्रमादहु सोइ ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ॥
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

सतगुन के बाढ़न समैं जो मनुष्य मरजाइ ।
उत्तम ज्ञानिन कौ अमल लोक पार्थ ! सो पाइ ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ॥
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजगुन में लहि मृत्यु कों कर्मिन में ह्वै जाइ ।
तथा तमोगुन में मरे मूढ़योनि जन पाइ ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

पुण्य कर्म कौ फल सदा सात्त्विक निर्मल जान ।
रज का फल दुख होत है तम कौ फल अज्ञान ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ज्ञान होत है सत्त्व तें रजतें लोभ महान ।
तम तें होत प्रमाद अरु मोह तथा अज्ञान ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः॥१८॥

ऊपरि चढ़ि हैं सतगुनी ठहरत राजस बीच ।
तमोवृत्ति वश तामसी नीचें गिरिहैं नीच ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१६॥

गुण बिनु कर्ता और नहिं लखैं विवेकी जोइ ।
गुण तें बढ़ आतम लखै लहै भाव मम सोइ ॥ १६ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहज इन त्रय गुणन कों देही जो लाँघि जाइ ।
जन्म जरा दुख मृत्यु सों मुक्त मुक्ति कों पाइ ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच—

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ॥
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन ने कहा ।

कौन चिह्न प्रभु ताहि के गुणातीत जो होइ ।
ताकौ का आचार है गुणनि तरै किमि सोइ ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२॥

श्रीभगवान ने कहा ।

पार्थ ! प्रकाश प्रवृत्ति अरु मोह होइ जो आइ ।
तिनके त्याग प्रवृत्ति में द्वेष न इच्छा जाइ ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तंत इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥

उदासीन सम गुणनि तें चलित न ह्वै आसीन ।
अटल रहै यहि समुझिकैं गुण ही वर्तत तीन ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ॥
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः॥२४॥

ठिकुरी पत्थर हेम सम प्रिय अप्रिय सुख पीर ।
निन्दा अस्तुति जाइ सम ऐसो जो मतिधीर ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीत स उच्यते ॥ २५ ॥

मान तथा अपमान सम हितु रिपु पक्ष समान ।
त्यागी सर्वारम्भ जो गुणातीत तेहि जान ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

अटल भक्ति के योग तें जो मम सेवा धार ।
ब्रह्म भाव कों पाइ है करत गुणन जो पार ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च॥२७॥

अमृत सनातन धर्म कौ तथा ब्रह्म कौ धाम ।
अरु अव्यय एकान्त सुख लखु मोही कों ठाम ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगोनामचतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इति गुणत्रयविभागयोगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १५

—:०:—

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान ने कहा।

जड़ ऊपर शाखा तले वेद पत्र अति शुद्ध।
ऐसें नित अश्वत्थ कों जो जानै सो बुद्ध ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ॥
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

शाखा इसी अश्वत्थ की सत्त्वादि गुणतें बढ़ रहीं।
शब्दादि रूपी विषयतें फूटी प्रबालें हैं कहीं ॥
यहि भांति मूलैं लटकि नीचै फैलती हैं सर्वदा।
कर्मबन्धन में बँधीं इस लोक में बढ़तीं सदा ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

जाकौ न रूप दिखातहै नहिं आदि अन्तहु लखिपरै।
अश्वत्थ जो दृढ़मूल तास असंगसों खण्डन करै ॥ ३ ॥

तत: पदं तत्परिमार्गितव्यं

यस्मिन्गता न निवर्त्तंति भूयः ॥

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

फिर वही चहिये पद खोजना ।

न जिससे पड़ता फिर लौटना ॥

शरण तू गहले भगवान की ।

विरचना जिन कीन्ह जहान की ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥

द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

जो मान मोह निकासिकै अरु संगदोषनि जीतिकै ।

थिर नित्य आतम बिच रहै अरु कामना सब छाँड़िकै ॥

सो दुःख नामक द्वंद्व तें अरु मोह हू तें मुक्त है ।

हे वीरवर शाश्वत परमपद शान्ति अक्षय को लहै ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ॥

यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

सूर्य चन्द्र अरु अग्नि सों जो न प्रकाशित होइ ।

जहाँ पहुँचि नहिं लोटि है धाम परम मम सोइ ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

मोर सनातन अंश हीं जीव लोक बिच जोइ ।
प्रकृतिस्थित इन्द्रियनयुत मन कों खैंचत सोइ ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥८॥

यथा पवन पुष्पादि तें गंध संग लै जाइ ।
तथा जीव इन्द्रियन कों नूतन तन बिच लाइ ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

आँख कान रसना त्वचा नासा पर अधिकार ।
दृढ़ जमाइ भोगै सदा मनसों भोग अपार ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ॥
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

देहस्थित या जीवकों राखत तजत शरीर ।
अज्ञानी देखत नहीं देखत हैं मतिधीर ॥ १० ॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ॥
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः ॥११॥

जतन करत योगी लखैं आपुहि में थिति पाइ ।
विषयासक्त अचेत नर मूढ़ लखहिं नाहिं ताइ ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ॥
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूरज में जो तेज है जगत प्रकाशत जोइ ।
अरु चन्दा अरु अगिन में सब मेरौ ही सोइ ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ॥
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः १३

बलसों भूतन कों धरों करिके भूमि प्रवेश ।
अरु पोषत सब ओषधिन रसमय है राकेश ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

वैश्वानर बनि रहत हों प्राणिन मध्य समाइ ।
अन्न पचावत चार विधि प्रान अपान मिलाइ ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

हृदय में सब के मैं बसत हों
मोतेंहि स्मृति ज्ञान विचार हैं ।
सब श्रुतिन सों मैं जानन जोग हों
रचयिता श्रुति कौ अरु जाननहार मैं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

क्षर अरु अक्षर दो पुरुष पारथ जान इहस्थ ।
क्षर तौ सारे भूत हैं अक्षर है कूटस्थ ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

अन्य जो उत्तम पुरुष है परमात्मा कहलात ।
तीन लोक व्यापक अमर पालक पोषक तात ! ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

उत्तमता में श्रेष्ठतर अहों क्षरनतें तात !
लोक वेद में ताहितें पुरुषोत्तम कहलात ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

पुरुषोत्तम मोइ जानिकै असंमूढ़ है जोइ ।
भारत ! मोइ सब भाव तें भजै सर्वविद सोइ ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ॥
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत २०॥

परम गोप्य शिक्षा अटल जो मैं दई सुनाइ ।
जाकों जो धारण करै सफल यत्न है जाइ ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तम-योगोनाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इति पुरुषोत्तमयोगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १६

—:०:—

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ॥
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

श्रीभगवान ने कहा ।

अभय शुद्धि अरु सरलता ज्ञानयोग बिच थान ।
दान तपस्या यज्ञ दम नित स्वाध्याय विधान ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ॥
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

शान्ति अहिंसा सत्यता क्रोधपिशुनताहीन ।
त्याग दया लज्जा क्षमा लोभ चपलता क्षीन ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज शौच क्षमता धृती द्रोहाभाव अमान ।
दैवी सम्पति युक्त के गुण भारत ये जान ॥ ३ ॥

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दम्भ दर्प अभिमानिता क्रोध क्रौर्य अज्ञान ।
असुर संपदा युत मनुज ताके अवगुण जान ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ॥
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५॥

सुरसंपति है मुक्ति लगि बन्धन आसुरि जान ।
शोच न कर तू पाण्डुसुत ! सुरसंपति प्रकटान ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ॥
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

पार्थ ! लोक में सृष्टि हैं दैवासुर ये दोइ ।
दैवी गुण कहि आसुरी और सुनाऊं तोइ ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ॥
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

प्रवृति निवृति कों असुरजन पारथ ! जानत नाहिं ।
शौच सत्य आचार दम होत न तिनके माहिं ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

जग असत्य आधार बिनु कहहिं अनीश्वर सोइ ।
कामहेतु अरु कछु नहीं संयोगहि तें होइ ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अल्पबुद्धि अज्ञान जन ऐसी मति ठहिराइ ।
जग के वैरी नाश कों होइ कुकर्मी आइ ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ॥
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तंतेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

पड़े काम दुष्पूर बिच दम्भ मान मद लीन ।
गहें असतग्रह मोह तें वर्तत व्रतहु मलीन ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ॥
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

चिन्तामग्न अपार है मरणकाल पर्यन्त ।
काम भोग ही परमसुख यहि निश्चय अत्यन्त ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

आशापाशनि तें बँधे काम क्रोध ही स्वार्थ ।
धन सञ्चय अन्याय तें करत काम भोगार्थ ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

आज मिली यहि संपदा काल्ह वहू मिल जाइ ।
यह धन मेरे हाथ है वह धन हू मोइ पाइ ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

आज हन्यौ यह शत्रु मैं हनिहों कल जो आन ।
मैं भोगी ईश्वर अहों सिद्ध सुखी बलवान ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः१५

मो समान कोउ और नहिं मैं कुलीन धनवान ।
यज्ञ दान अरु मोद सब करिहौं कहत अजान ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

बहु विचार तें भ्रान्त चित फँसे मोह के जाल ।
काम भोग रत अशुचि नर नरक परैं तत्काल ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ॥
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अभिमानी अरु निठुर अति धन मद मान समेत ।
अविधि दम्भ तें नाम कों यज्ञहु करैं अचेत ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार बल दर्प अरु काम क्रोध वश होइ ।
निज पर तन थित मोहिकों निन्दैं द्वेषैं सोइ ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १६ ॥

ऐसे द्वेषी कूर अरु अशुभ नराधम आहिं ।
फैंकहुँ आसुरि योनि तिन मैं सदैव जगमाहिं ॥ १६ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम्॥२०॥

जन्म जन्म में मूढ़ ये योनि आसुरी पाइ ।
मेरौ पद पाये बिना लहैं अधम गति जाइ ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥२१॥

द्वार नरक के तीन ही आतम नाशक जान ।
काम क्रोध अरु लोभ पुनि इनहि त्याज्य ही मान ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

इन तीनों तमद्वार तें बचै मनुज जो कोइ ।
आत्मश्रेय निश्चय करै तासु परमगति होइ ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो तजिकै विधि शास्त्र की करै कर्म मन मानि ।
सो नहिं पावत सिद्धि सुख होत परमगति हानि ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

कार्याकार्य विचार में तो कों शास्त्र प्रमान ।
कर्म उचित यातें करन गनि शास्त्रोक्त विधान ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगोनाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इति दैवासुरसंपद्विभागयोगोनाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १७

—:०:—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने कहा।

श्रद्धायुत तजिशास्त्रविधि करहिं यजन हरि जौन।
सत्त्व राजसी तामसी उनकी श्रद्धा कौन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

श्रीभगवान ने कहा।

श्रद्धा प्राणिन की त्रिविध सो स्वभावतें होइ।
सत्त्व राजसी तामसी कुंतीसुत सुन सोइ ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

भारत श्रद्धा सबन की होत सत्त्व अनुसार।
श्रद्धामय यह पुरुष है सो जस श्रद्धा धार ॥ ३ ॥

यजंते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥४॥

यजन सात्त्विकी करत हैं देवन कौ सुनु मीत।
यक्ष निशाचर राजसी तामस भूत पलीत ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ॥
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

शास्त्राज्ञा विपरीत जो करत पार्थ तप घोर ।
जुटे दम्भ अरु मान में काम राग के जोर ॥ ५ ॥

कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

भूतग्राम देहस्थ कों तन अन्तर्गत मोइ ।
जो खैंचत हैं मूढ़जन असुर कहावत सोइ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सब कौं तीन प्रकार कौ भोजन रुचिकर होइ ।
यज्ञ तपस्या दान के सुनहु भेद अब जोइ ॥ ७ ॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याःस्निग्धाःस्थिरा हृद्या आहाराःसात्त्विकप्रियाः

आयु सत्त्व बल अरुज सुख प्रीति बढ़ावनहार ।
सरस हृद्य थिर चीकनौ सात्त्विक प्रिय आहार ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

तीक्ष्ण रूख बहु उष्ण कटु अम्ल बिदाही क्षार ।
रोग शोक अरु दुःखप्रद राजस प्रिय आहार ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

यातयाम दुर्गंधयुत नीरस बास्यौ जोइ ।
और अशुचि उच्छिष्ट जो है तामस प्रिय सोइ ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ॥
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥११॥

कार्यकर्म मन में समुझि फलइच्छा बिनु जोइ ।
विधिपूर्वक जो यज्ञ है सात्त्विक जानौ सोइ ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

फलइच्छा सों जो कियौ यज्ञ दम्भ लगि जोइ ।
भरतर्षभ ! जानौ सदा यज्ञ राजसी सोइ ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

बिना मन्त्र बिनु दक्षिणा अन्नदान विधिहीन ।
बिनु श्रद्धा के यज्ञ कों तामस कहत प्रबीन ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

सुर महिसुर गुरु बुध यजन शौच सरलता दान ।
ब्रह्मचर्य हिंसातजन शारीरिक तप जान ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

करत नाहिं उद्वेग पुनि सत्य व प्रियहित जोइ ।
वेदपाठ अभ्यासयुत वाणी तप है सोइ ॥ १५ ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनप्रसाद सौम्यत्व अरु मौन आत्मग्रह होइ ।
निश्छलता व्यवहार में मनतप कहिये सोइ ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ॥
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

फल की इच्छा छाँड़िकै श्रद्धापूर्वक जाइ ।
उत्तम जन करते त्रिविध तप सात्त्विक कहु ताइ ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

आदर पूजा मान हित कियौ दम्भ सों जौन ।
चञ्चल अस्थिर दर्पयुत रजोगुनी तप तौन ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

कियौ दुराग्रह तें जु तप आत्मदुःख तें जोइ ।
वा दूसर की हानि लगि कहिये तामस सोइ ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

अनउपकारी कों दियौ दैन चहिय जो पार्थ ।
देश काल अरु पात्र लखि सात्त्विक दान यथार्थ ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

जो हित प्रत्युपकार के वा पुनि फल कों चाहि ।
अथवा जो दुख तें दियौ राजस दान कहाहि ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

देश काल अरु पात्र बिनु लखै दियो जो दान ।
मानहीन सत्कार बिनु ताकों तामस जान ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

'ओ३म्' 'तत्' 'सत्' इन तीनकों ब्रह्मनाम पहिचान ।
वेद यज्ञ अरु विप्र कौ इनतें सम्भव मान ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तातें कहिकै "ओ३म्" इति यज्ञ क्रिया तप दान ।
वेदज्ञन की होत है वैदिक क्रिया विधान ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः२५॥

"तत्" उच्चारण के बिना यज्ञ दान तप पार्थ ।
कबहुँ मुमुक्षू नहिं करत जानौ याहि यथार्थ ॥

अथवा

फल की इच्छा छाँड़िकै "तत्" उच्चारण साथ ।
यज्ञ दान तप मुक्ति लगि करत मनुज जननाथ ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥२६॥

हे अर्जुन ! सज्जन सदा "सत्" कौ करें प्रयोग ।
अरु श्रेयस्कर कार्य में "सत्" बोलें सब लोग ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ तथा तप दान में थिति "सत्" नाम कहाइ ।
अरु त्यहि अर्पित कर्म सब "सत्" नामहिं कों पाइ ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥२८॥

यज्ञ दान तप कर्म हू श्रद्धा बिनु जो होइ ।
"असत्" कहावत पार्थ वह नहिं यहँ नहिं वहँ सोइ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इति श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ओ३म् तत् सत्

अध्याय १८

—:०:—

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा ।

केशिनिसूदन ! महाभुज ! हे इन्द्रिन के नाह !
तत्त्व त्याग संन्यास के जानन की मोइ चाह ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २ ॥

श्रीभगवान ने कहा ।

काम्य कर्म के न्यास कों कविजन कहँ संन्यास ।
त्याग कहत हैं तजत जहँ सकल कर्मफल आस ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कर्म त्याज्य है दोषवत् कहैं कोउ मतिमान ।
उचित न त्यागन कहत कोउ कर्म यज्ञ तप दान ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥४॥

मम निश्चय जो भरतवर! त्याग विषय सुनु ताइ।
पुरुषसिंह! त्यागहु सदा तीन प्रकार कहाइ ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

कुन्तीसुत! नहिं त्याज्य हैं कर्म यज्ञ तप दान।
इन तीनन तें होत हैं शुद्ध सदा बुधिमान ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च॥
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

इनहूँ कौ करिबौ उचित करि संगति फल त्याग।
निश्चित उत्तम पार्थ! यहि मत मेरो नित जाग ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म कौ त्यागहू उचित नाहिं सुनु तात!
तासु त्याग अज्ञानवश तामस त्याग कहात ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ॥
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥८॥

जो दुखदाई समुझि कै करत कर्म कौ त्याग।
राजस त्याग कहात सोइ बिना त्याग फल भाग॥

अथवा

दुःख समुझि करि क्लेश भय करै कर्म जो त्याग ।

सो करि राजस त्याग नहिं लहै त्याग फल भाग ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥

संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ९

नित्य कर्म कों कार्य गनि फलासङ्ग तजि धीर ।

करै जु ताही त्याग कों सात्त्विक जानौ वीर ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ॥

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

सत्त्वयुक्त मेधावि जो त्यागी संशयहीन ।

अशुभ कर्म सों द्वेष नहिं ताइ न शुभ में लीन ॥ १० ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

तनधारी पै तौ कबहुँ कर्म तज्यो नहिं जाइ ।

जो त्यागत है कर्मफल त्यागी सोइ कहाइ ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् १२

इष्ट अनिष्टहु मिश्र पुनि त्रिविध कर्मफल होइ ।

अत्यागी कों होत सोइ त्यागी कों नहिं कोइ ॥ १२ ॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥

सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् १३॥

सब कर्मन की सिद्धि लगि सांख्यशास्त्र में जोइ ।

महाबाहु ! कारण कहे पाँच सुनहु तुम सोइ ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ॥

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥१४॥

देह जीव इन्द्रिय सकल पृथक्क पृथक जो आहिं ।

विविध भांति चेष्टा बहुरि पञ्चम दैव कहाहिं ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ॥

न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तन मन वाणी तें मनुज कार्य अरम्भै जौन ।

न्याय्य होइ अन्याय्य वा पाँच हेतु यहि तौन ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

जो दुर्मति अविवेक वश ऐसि अवस्था माहिं ।

आत्महि कों कर्त्ता लखत सो कछु देखत नाहिं ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबद्धयते ॥१७॥

जासु अहंकृत भाव नहिं बुद्धि लिप्त नहिं होइ ।

इन लोकन कों मारि हू मारै बँधै न सोइ ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ॥

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता त्रिविध कर्म प्रेरणा जान ।

कर्मन के संग्रह करण कर्त्ता कर्महि मान ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ॥
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणुतान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान कर्म कर्त्ता गनिय गुण के तीन प्रकार ।
सांख्यशास्त्र जो कहत है, तापर करहु विचार ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् २० ॥

भिन्न सकल भूतन विषें भाव अभिन्न विकास ।
जासों देखत जान तिह सात्त्विक ज्ञान प्रकास ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

भिन्न भिन्न जानत सकल भूतन में जो भाव ।
सोइ ज्ञान कुन्तीतनय ! राजस ज्ञान कहाव ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ॥
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

जब जन एकहि कार्य में पूर्ण समुझि फँस जात ।
अल्प अहैतुक ज्ञान सोइ तामस ज्ञान कहात ॥ २२ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ॥
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

फलवांछा तजि सङ्ग बिनु राग द्वेष बिसराइ ।
नित्य कर्म जो नर करै सो सात्त्विक कहलाइ ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ॥
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

जामें फल इच्छा रहै अहंकारयुत जोइ ।
कियो जाइ श्रम अमित सों राजस कारज सोइ ॥ २४ ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ॥
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

बिना बिचारै हानि अरु बल हिंसा परिणाम ।
कियौ कर्म जो मोह तें तामस ताकौ नाम ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विकउच्यते २६

मुक्तसंग ममतारहित धीर उद्यमी जोइ ।
निर्विकार सिधि असिधि में कर्त्ता सात्त्विक होइ ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥२७॥

रागी लुब्धक कर्मफल इच्छुक हिंसक जोइ ।
हर्षशोकयुत अशुचि पुनि कर्त्ता राजस सोइ ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ॥
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

कपटी हठी अयुक्त शठ परपीड़क अलसान ।
कार्यविलम्बी मुदरहित कर्त्ता तामस जान ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ॥
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

भिन्न गुणन तें भेद जो बुद्धि धृती के पार्थ !
सो अब वर्णन करत हों जानौं तिनहिं यथार्थ ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ॥
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ३० ॥

बंध मोक्ष अरु भय अभय कार्य अकार्यहु जान ।
प्रवृति निवृति जो बुधि गनै ताकों सात्त्विक मान ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ॥
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

जातें धर्म अधर्म को कार्य अकार्यहु कोइ ।
विधिपूर्वक जानत नहीं राजस बुधि है सोइ ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ॥
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ३२

जो अधर्म कों धर्म गनि मोहग्रस्त है तात !
सब अर्थनि उलटे गिनै तामस बुद्धि कहात ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ॥
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ३२

जा थिर धृति सों रखत नर मन इन्द्रिय अरु प्रान ।
सावधान व्यापार में सो धृति सात्त्विक जान ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ॥
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! जामें रहैं धर्म अर्थ अरु चाह ।
फल की इच्छा हू प्रबल राजस जानौ ताह ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ॥
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

स्वप्न शोक भय दुःख मद नहिं त्यागत है जोइ ।
दुर्मेधा धृति तामसी पार्थ कहावत सोइ ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ॥
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति॥३६॥

सुख हू तीन प्रकार कौ सुनु पारथ ! चितलाइ ।
जामे रमि अभ्यास तें अन्त दुखन कौ पाइ ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो विष सम है आदि में अन्तिम अमृत समान ।
आत्मबुद्धि कों सुखद जो सात्त्विक सुख सोइ जान ॥ ३७ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषयेन्द्रिय संजोग तें पाहिलै अमृत समान ।
जो विष सम है अन्त में सो सुख राजस जान ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

आदि अन्त में मोह बिच फाँसत मन कों जोइ ।
निद्रालस्य प्रमाद तें सुख तामस है सोइ ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

पृथ्वीतल आकाश में देवन हू के माहिं ।
थावर जंगम सृष्टि में त्रिगुणरहित कोउ नाहिं ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ॥
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अरु शूद्रन के जो कर्म ।
स्वाभाविक गुण तें बटे जानहु तिनकौ मर्म ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं शांतिरार्जवमेव च ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ४२॥

शौच क्षमा तप दम शमन आर्जव अरु विज्ञान ।
ज्ञानास्तिक्य स्वभाव तें ब्रह्म कर्म पहिचान ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ॥
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य तेज धृति दक्षता रण-अपलायन दान ।
ईश्वरभाव स्वभाव तें क्षात्र कर्म पहिचान ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

कृषि गोरक्षा बनिज हैं वैश्य स्वभावज कर्म ।
पार्थ ! स्वभावज शूद्र कौ सेवा ही इक धर्म ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥४५॥

आपन आपन कर्म में तत्पर हुइ नर तात !
जा विधि पावै सफलता सोइ सुनावत बात ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥४६॥

भूतसृष्टि जातें भई जातें यहि जग व्याप्त ।
ताहि पूजि निज कर्म तें सिद्धि लहत है आप्त ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

भले किये परधर्म तें श्रेष्ठ विकृत निज धर्म ।
पाप लगै नहिं ताहि जो करै स्वभावज कर्म ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

सहज कर्म कों पाण्डुसुत ! तजै सदोषहुँ नाहिं ।
सर्वारम्भनि दोष जिमि धूम अगिनि में आहिं ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥४९॥

जो पारथ ! अनुराग बिनु इन्द्रियजित निष्काम ।
वह द्वारा संन्यास के पावत है परधाम ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ॥
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

सिद्धि प्राप्ति करि तात पुनि ब्रह्म प्राप्ति जिमि होइ ।
परम अवस्था ज्ञान की संक्षेपहि सुनु सोइ ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ॥
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ५१

मन को वश करि धैर्य सों शुद्धि बुद्धि सों युक्त ।
शब्दादिक सब विषय तजि राग द्वेष सों मुक्त ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
लघुभोजी एकान्त बसि नियमित मन वच काय ।
नित आश्रित वैराग्य पर ध्यान योग में लाय ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥५३॥
अहंकार अरु काम बल दर्प परिग्रह कोह ।
त्यागि शान्त निर्मम मनुज होइ ब्रह्म संदोह ॥ ५३ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ॥
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
ब्रह्मरूप हुइ मुदित मन जाकों शोक न आस ।
सब भूतन कों सम लखत परमभक्ति है तास ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥५५॥
जैसै अरु जो मैं अहों मोइ भक्ति सों जान ।
परम तत्त्व मम जानि कै मोसों होत मिलान ॥ ५५ ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
सब कर्मन कों करत हू मोही में चित देउ ।
मोर कृपा तें पाण्डुसुत ! अविनाशी पद लेउ ॥ ५६ ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७॥

मत्पर ह्वै करि कर्म सब चित सों अर्पण मोइ ।
बुद्धियोग कों पाइ नित यतचित मोमें होइ ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

मोमें चित्त लगाइ कै तरिहौ सब कठिनाइ ।
जो नहिं सुनहु घमंड तें सर्व नाश ह्वै जाइ ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ॥
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ५९॥

समुझि रह्यौ जो "नहिं लड़ूँ" अहंकार चितलाइ ।
मिथ्या तव व्यवसाइ है तोकों प्रकृति लड़ाइ ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ६०

मोहविवश तू नहिं करन चाहत अर्जुन ! जोइ ।
स्वाभाविक निज कर्म बँधि अवश करैगौ सोइ ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

सब भूतन के हृदय बिच ईश रहत है जोइ ।
माया तें पुतरी सरिस सबहि नचावत सोइ ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

सर्वभाव तें भरतवर ! ताकी शरणहि जाउ ।
तासु कृपा तें शान्ति पर शाश्वत पद कों पाउ ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

ज्ञान गुप्त तें गुप्तहू मैंने दियौ बताइ ।
भल विचारि अब कीजिये यथायोग्य व्यवसाइ ।। ६३ ।।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ६४

गोपनीय कुंतीतनय ! अति गभीर वच मोर ।
फिरहू सुनु मम मित्र है करन चहौं हित तोर ।। ६४ ।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५

नमस्कार करि पूज मोहि मोमें ध्यान लगाइ ।
सत्यव्रत पुनि भक्त हुइ प्रिय मोमें मिल जाइ ।। ६५ ।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः६६

सब धर्मन कों त्यागिकै एक मोइ गहु आइ ।
मत सोचै सब पाप तें लैहौं तोइ छुड़ाइ ।। ६६ ।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

जो अभक्त श्रद्धारहित और तपस्या हीन ।
नाहिं बतावन ज्ञान यहि जाकौ हृदय मलीन ।। ६७ ।।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८ ।।

जो मम भक्तन तें कहै परम गुप्त यहि ज्ञान ।
सो मेरी दृढ़ भक्ति तें मोकों मिलिहै आन ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ॥
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

तासों प्रियतर अधिक कोउ मोर नाहिं जग माहिं ।
भयौ नाहिं अब हू न है फिरहु होइगो नाहिं ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ॥
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

हमरे शुचि संवाद कों पढ़ै जु चित्त लगाइ ।
ज्ञान यज्ञ फल पार्थ सो मम पूजन तें पाइ ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ॥
सोऽपिमुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

अनसूयक श्रद्धासहित जो नर सुनि है याहि ।
मुक्त होइ सो अरु मिलै पुण्यलोक हू ताहि ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ॥
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

कहा पार्थ ! तैनैं सुन्यौ चित लगाइ यहि ज्ञान ?
कहा सकल तेरौ नस्यौ यातें भ्रम अज्ञान ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुन ने कहा ।

स्मृति लहिकै तव कृपा तें मोह नस्यौ प्रभु मोर ।
थित हों मैं सन्देह बिनु करि हों आज्ञा तोर ॥ ७३ ॥

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

संजय ने कहा ।

राजन् ! या विधि मैं सुन्यौ कृष्णार्जुन संवाद ।
अद्भुत अरु रोमाञ्चकर दाता भूरि प्रसाद ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ॥
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ७५॥

व्यास कृपा तें मैं सुन्यौ गोपनीय यहि ज्ञान ।
योगेश्वर श्रीकृष्ण ने निज मुख कियौ बखान ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ॥
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

शुचि अद्भुत संवाद यहि केशव अर्जुन केर ।
बार बार सुमिरन करत नृपति ! लहौं मुदढेर ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ॥
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ७७

सुमिरि सुमिरि श्रीकृष्ण के अद्भुत रूप अपार ।
होत मोइ विस्मय अमित हर्षहु बारंबार ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

जहँ योगेश्वर कृष्ण हैं जहँ अर्जुन धनुधारि ।
भूति विजय श्री नीति तहँ यहि मति नृपति हमारि ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यास-योगोनामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति मोक्षसंन्यासयोगोनाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ओ३म् तत् सत्
